जड़मूलसे क्रान्ति

लेखक

किशोरलाल घनश्यामलाल मशरूवाला

अनुवादक

रामचन्द्र बिल्लोरे

नवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाओी देसाओी
नवजीवन मुद्रणालय, कालुपुर, अहमदाबाद

पहली बार :, ५,०००

डेढ़ रुपया

जून, १९४९

निवेदन

यह पुस्तक मैंने नवीं अगस्त १९४७ से शुरू की। विचार तो मनमें भरे ही थे। अुनमेंसे कुछ अलग अलग लेखोंमें प्रकट भी हो चुके थे। मगर अिस तरह पुस्तकके रूपमें अुन्हें लिख डालनेका कोअी संकल्प नहीं था। पाँचवीं या छठी अगस्तको श्री शंकरराव देव वर्धा आये थे। अुनकी अिच्छासे देशके अनेक राजकीय, सामाजिक वगैरा प्रश्नोंपर चर्चा करनेके लिअे यहाँके मुख्य मुख्य कार्यकर्ताओंकी अेक बैठक हुअी। अिस चर्चामें मैंने भी अपने कुछ विचार पेश किये। मगर पन्द्रह मिनटमें सारी बातें अच्छी तरहसे कह सकना मेरे लिअे संभव न था, अिसलिअे मैंने अुन्हें लिखनेका निश्चय किया और नवीं अगस्तसे यह काम शुरू हुआ। मेरा खयाल था कि अेकाध फॉर्मसे ज़्यादा बड़ी पुस्तिका नहीं होगी और अेकाध हफ़्तेमें ही मैं अुसे समाप्त कर दूँगा। मगर यह तो मकड़ीके जालेकी तरह बढ़ती ही गअी और अेक खासी पुस्तक बन गअी। अिस तरह अिसका प्रथम लेखन २८ नवम्बर १९४७को पूरा हुआ। तबतक तालीमके सम्बन्धमें अिसमें कुछ भी नहीं लिखा गया था। बादमे पूरी पुस्तककी जाँच करते हुअे अिस विषयपर लिखनेकी बात सूझी और अिस तरह पुस्तकमें चौथा खंड बढ़ा। यह खंड बहुत कुछ फुटकर-सा है। अिसमें पूरी चर्चा नहीं की गअी है। ता० ३० जनवरी १९४८के हमेशा याद रहनेवाले दिनको दोपहरके वक़्त अिसका अन्तिम प्रकरण पूरा हुआ। तब मुझे क्या पता था कि अितहासके नामधारी ज्ञानसे होनेवाले अनिष्टके बारेमें मैंने जो बात अिसमें लिखी है, अुसका सबूत अुसी दिन मिल जायगा! अुसी तरह २८-११-'४७को अुपसंहार लिखते वक़्त भी मुझे क्या पता था कि पं० जवाहरलालजी पर सारा भार डालकर गांधीजीको अितनी जल्दी बिदा होना पड़ेगा? कौन कह सकता है कि भविष्यके

गर्भमें क्या छिपा है? मगर अिस वज्रपात जैसी घटनाके बावजूद, अुपसंहार के अन्तमें मैंने जो आशा प्रकट की है, वह अभी भी क़ायम है। अितना सच है कि गांधीजीके रास्ते शायद दूसरोंको भी जाना ज़रूरी हो जाय। जिब्रानका अेक वाक्य है :

"अगर हम केवल सत्य और नग्न सत्य ही पाँच मिनट तक कहेंगे, तो हमारे सारे मित्र हमें छोड़ देंगे; अगर दस मिनट तक कहेंगे, तो हमें देश निकाला दे दिया जायगा; और अगर पन्द्रह मिनट तक कहेंगे, तो हमें फाँसी दे दी जायगी।" (मिस बारबारा यंगके 'धिस मैन फ्रॉम लेबेनॉन' मेसे)

और तिसपर भी मानवजाति और मानवतापर मेरी श्रद्धा है। और वह किसी अेक ही देश या कालके लोगों तक सीमित नहीं है। मैं कअी बार कह चुका हूँ कि पूर्वकी संस्कृति और पश्चिमकी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति वगैरा भेद मुझे महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम होते। मानव-प्रजामें सिर्फ दो ही संस्कृतियाँ है : भद्र संस्कृति और संत संस्कृति। दोनोंके प्रतिनिधि सारी दुनियामें है। जिस हद तक संत संस्कृतिके अुपासक निष्ठा और निर्भयतासे बरतेंगे, अुसी हद तक मानवजातिके सुखकी मात्रा बढ़ेगी।

वर्धा, — किशोरलाल मशरूवाला
९ फरवरी, १९४८

विषय-सूची

भाग तीसरा

राजकीय क्रान्ति

भाग चौथा

तालीम

प्यारे साथियोंको

जड़मूलसे क्रान्ति

भाग पहला

धर्म और समाज

१

दो विकल्प

लम्बे अरसेसे मैं मानता आया हूँ और कअी बार कह भी चुका हूँ कि हमें अपने अनेक विचारों और मान्यताओंको जड़मूलसे सुधारनेकी ज़रूरत है। हमारे क्रान्ति सम्बन्धी विचार ज्यादातर अूपरी सुधारों तक ही सीमित हैं, मूल तक नहीं जाते। अिनमेंसे कुछ विचारोंको यहाँ मैं व्यवस्थित रूपमें पेश करनेकी कोशिश करूँगा।

सबसे पहले मैं अपने धार्मिक और सामाजिक रचना सम्बन्धी विचारोंको लेता हूँ; हमें नीचे दिये हुअे दो विकल्पोंमेंसे किसी अेकको निश्चित रूपसे अपना लेना चाहिये।

१. या तो मि. संजाना वगैरा टीकाकारोंके मतानुसार हमें मान लेना चाहिये कि जाति-भावना अेक अैसा संस्कार और अेक अैसी संस्था है, जो हिन्दू-समाजमेंसे कभी हट नहीं सकती। जातिहीन हिन्दू-समाजकी रचना होना असम्भव है। अिसलिअे अिस हक़ीक़तको मानकर ही हमें देशकी राजकीय वगैरा व्यवस्थाओंपर विचार करना चाहिये। मनु आदि स्मृतिकारोंने अैसा ही किया था। अुनकी कोशिश सबको अलग अलग रखकर अुनमें अेक किस्मकी अेकता कायम करनेकी थी। हिन्दुस्तानपर मुसलमानोंका आक्रमण होनेसे पहले अैसा करनेमें कोअी कठिनाअी नहीं हुअी। अिसके दो कारण थे: अेक तो तब देश अितना विशाल और समृद्ध था कि सबको अलग अलग रखकर अुन्हें जीनेकी सुविधा दी जा सकती थी। आजकी तरह वह ज़रूरतसे ज्यादा आबाद और शोषित नहीं था; और दूसरे, मुसल्मानोंके आनेसे पहले यहाँके सभी देशी या विदेशी समाज अनेक देवी-देवताओं और यज्ञोंकी अुपासना करनेवाले थे। अिसलिअे पचास देवताओंके साथ अिक्कावनवें देवको मान्यता देने और अेक या दूसरे मुख्य देवमें अुसका किसी तरह

समावेश कर लेनेमें ज्यादा कठिनाअी नहीं होती थी। तब देश अितना विशाल था कि सभी जातियाँ अपने अपने पाकिस्तान बनाकर रह सकती थीं।

अनेक देवोंकी अुपासना और जातिभेद अेक दूसरेसे निकट सम्बन्ध रखते हैं। अनेक देवोंमें अेक ही देवको देखने और अनेक जातियोंमें अेक ही हिन्दू-धर्म या सिर्फ चार ही वर्ण देखनेकी कोशिश बुद्धिका समाधान मात्र है। व्यवहारमें अिसपर अमल होते नहीं देखा गया। बुद्धने अिस व्यवस्थाको जड़से ही बदलनेकी कोशिश की, मगर बौद्धधर्ममें महायान पंथ कायम करके हिन्दुस्तानने बौद्धधर्मको ही कमज़ोर बना डाला।

या फिर यह मानकर कि यह चीज़ हमारे रोमरोममें समाअी हुअी है, हम अिसमेंसे ही अपना रास्ता निकालनेका निश्चय करें। यानी, सामाजिक व्यवहारोंमें अेक दूसरेसे कम ज्यादा अलग रहनेवाली अेक नहीं, बल्कि अनेक छोटी छोटी जातियोंको हम लाज़मी मानें और अिन सबकी अिच्छायें पूरी करनेके लिअे कअी तरहके पाकिस्तान, अलग अलग मतदार-मंडल और संख्यानुसारी प्रतिनिधि वगैरा बनायें।

अैसा हो ही नहीं सकता, सो बात नहीं है। मगर हमें अिसके परिणामोंके लिअे भी तैयार रहना चाहिये। हमें समझ लेना चाहिये कि अैसा करनेसे देश ज्यादा ताक़तवर और संगठित नहीं हो सकेगा और अुसे छोटे छोटे राज्योंमें टुकड़े टुकड़े होकर जीना पड़ेगा। अलावा अिसके, कुछ समय बाद नामधारी अूँची जातियोंकी वैसी ही हालत होना सम्भव है, जैसी आज यहूदियोंकी हो रही है। नीच मानी जानेवाली जातियाँ आगे पीछे अिस्लाम या अीसाअी धर्म स्वीकार कर लेनेमें ही अपना फायदा देखेंगी। अूँची जातियाँ अगर राजकीय महत्वाकांक्षा छोड़कर अपने बुद्धि-बलसे सिर्फ कुछ बड़ी बड़ी नौकरियाँ करने और व्यापार करनेमें ही सन्तोष मानेंगी, तो सुखसे जी सकेंगी और अुनके अलग चौकों और देवपूजाओंमें अुन्हें कोअी हैरान करने नहीं जायेगा। जिस तरह अीरान, अरबस्तान आदि देशोंमें आज भी कअी हिन्दू रहते हैं, अुसी तरह वे रहेंगी। और अगर वे अैसा नहीं करेंगी, तो यहूदियोंकी तरह अपमानित होकर अुन्हें जहाँ-तहाँ भटकना होगा। जैसे जैसे नीची जातियाँ जाग्रत होती जायँगी, वैसे वैसे अपने अूँचेपनका अभिमान रखनेवाले लोगोंको पीछे हटना ही होगा।

अूँची जातियोंके लिअे अेक दूसरा रास्ता भी है। वह यह कि जबरदस्त कोशिश करके वे अपनी अेक फासिस्ट संस्था बनायें और दूसरी सभी जातियों, धर्मों वगैराको दबाकर अपनी त्रिवर्णशाही कायम करें। मैं मानता हूँ कि दिलकी गहराअीमें अैसी वृत्ति रखनेवाला वर्ग हमारे बीचमें मौजूद है। राजाओं, ब्राह्मण पण्डितों, व्यापारियों और बडे किसानोंका अगर वश चले, तो मुमकिन है कि वे अैसा ही करें।

जो लोग अिस विकल्पको पसन्द करके वैसा हिन्दुस्तान बनानेके लिअे तैयार हैं, अुनका रास्ता अिस तरह साफ है। वे अिस मक़सदको सामने रखकर दूसरी किसी बातका विचार किये बिना काम कर सकते हैं।

२. मगर जिन्हें यह विकल्प और अुसके परिणामोंपर पहुँचना मंज़ूर न हो, अुनके लिअे यह ज़रूरी है कि वे पहले विकल्पको अितने ही निश्चयके साथ अपनायें और अुसके अुपायोंमें दृढ़ताके साथ लग जायँ। वे अुपाय ये हैं: अपने खूनमेंसे जाति-भावनाके संस्कारको और समाजमेंसे जाति-संस्थाको नाबूद करना; और अैसी क्रान्ति निर्माण करना कि सारी हिन्दी जनता अपनेको अेक अखण्ड और समान दरजेवाली मानव-जाति मानने लगे और अुसी तरह व्यवहार करने लगे।

अैसी क्रान्ति लानेके लिअे क्या करना लाज़मी है, अिसपर हम अब विचार करेंगे।

९-८-'४७

२

धार्मिक क्रान्तिका सवाल

कअी बरसोंसे मैं कहता आया हूं और मेरी यह मान्यता ज्यादा ज्यादा मजबूत होती जाती है कि आजका अेक भी धर्म — हिन्दू, मुसलमान, अीसाअी, सिक्ख, बौद्ध, जैन वगैरा — मानवसमाजकी मौजूदा समस्याओंको हल करने लायक नहीं रहा। सभी बेजान बने हुअे हैं, और किसीका अुसके मूल रूपमें जीर्णोद्धार करनेपर भी वह मौजूदा समस्याओंको हल नहीं कर सकता। अिस मामलेमें हिन्दू-धर्म सबसे ज्यादा बेजान और भ्रमोंको दूर करनेमें अयोग्य है।

मेरा विश्वास है कि मनुष्यके या समाजके जीवन और कारबारोंमें जड़मूलसे क्रान्ति करनी हो, तो सबसे पहले अुसकी धार्मिक मान्यताओंमें परिवर्तन करनेकी ज़रूरत है। अगर आप किसी व्यक्तिको अैसी सामाजिक रूढ़ियाँ तोड़नेके लिअे कहें, जो लगभग धार्मिक रूढ़ियों जैसी हों, तो वह अपने पुराने धर्मसे चिपके रहकर अैसा नहीं कर सकेगा। मगर मुसलमान या अीसाअी बन जानेपर, या किसी नये गुरु या सम्प्रदायका शिष्य हो जानेपर, वह दूसरे ही क्षण पुराने विचारों और बन्धनोंको तोड़ डालनेमें समर्थ हो जाता है। पुराने सनातन धर्मपर हमारी जिस हद तक अश्रद्धा हुअी है, अुसी हद तक हम भी अस्पृश्यतानिवारण, सहभोजन, अन्तर्जातीय या प्रान्तीय या धार्मिक विवाह वगैराके लिअे तैयार हो सके हैं। और जहाँ हमारी मान्यताअें अुन पुरानी रूढ़ियोंके रटमें ही पड़ी हैं, वहाँ हम जातीय या साम्प्रदायिक मेलजोल पैदा करने वगैराके बारेमें तथा दूसरे बहुतसे सामाजिक और आर्थिक फेरफार करनेके बारेमें जबरदस्त कदम नहीं अुठा सकते। सिर्फ सर्वधर्म-समभाव या सर्ववर्ण-समभावकी भावना करके यह कहना कि मैं हिन्दू होते हुअे मुसलमान भी हूं, अीसाअी भी हूं, ब्राह्मण होते हुअे भंगी हूं, मुत्सद्दी होते हुअे किसान हूं — सिर्फ अूपरी कोशिश मात्र है। यही आदमी अगर सचमुच ही मुसलमान या अीसाअी बन जाय,

या भंगिनसे शादी करके भंगीका धन्धा करने लगे, तब अिसे 'जूता कहाँ काटता है' अिस बातका जो अनुभव होगा, वह हमें नहीं हो सकता। हमारी सारी कोशिश अपने हिन्दुत्व, ब्राह्मणत्व वगैराको सुरक्षित रखकर दूसरोंके साथ मेल बैठानेकी होती है। अुनके गैरहिन्दू और गैरब्राह्मण होनेकी भावना हमारे दिमागसे दूर नहीं हो सकती।

अेक दिन नागपुर जेलमें मेरे अेक साथी श्री बाबाजी मोघे पिछड़ी हुअी जातियोंकी सेवा और अुनके अुद्धारके बारेमें मुझसे चर्चा कर रहे थे। चर्चाके दौरानमें अुनके मुँहसे मराठीमें नीचे लिखे आशयका वाक्य निकल पड़ा: "कअी बार मुझे अैसा लगता है कि अिन लोगोंके वहम और अंधश्रद्धाअें दूर करनेके लिअे अिन्हें मुसलमान हो जानेकी सलाह देनी चाहिये!" श्री बाबाजीके मुँहसे यह विचार निकलना बहुत सोचने जैसी बात है। अिसका मतलब यह हुआ कि अुनको यह विश्वास हो गया है कि हिन्दू-धर्मके बजाय अिस्लाममें वहमों और अन्धश्रद्धाओंको हटानेकी शक्ति ज्यादा है। और यह बात बहुत हद तक सच भी है। लेकिन यह भी समस्याका सच्चा हल नहीं है। क्योंकि अिस्लाम भी भ्रमों — वहमों — अन्धश्रद्धाओं और संकुचिततासे परे नहीं है और न आजकी मानवी समस्याओंको हल करनेमें समर्थ है। साथ ही पूरे क़ुरानको जैसेका तैसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। अगर हम खुद अिस्लाम स्वीकार करनेके लिअे तैयार नहीं हैं, तो किसी दूसरेको यह सलाह कैसे दे सकते हैं? और अिस्लाममें सरलता और सीधी दृष्टिके होते हुअे भी बहुतसी अैसी बातें हैं, जिन्हें हमारी विवेकबुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। यही हाल अीसाअी वगैरा धर्मोंका है।

हम, हिन्दू लोग, जिन्दगीभर अेक अजीब किस्मकी बौद्धिक कसरत करनेके आदी हो गये हैं। अेक तरफसे हमारी फिलॉसफी ठेठ अद्वैत वेदांतकी है। अिस रटमें बुद्धिको रखकर जब हम विचार करते हैं, तो दुनिया झूठी, देव झूठे, गुरु-शिष्य झूठे, विधि-निषेध झूठे, पाप-पुण्य झूठे, नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसा, सत्य-झूठ सबको झूठे झूठे कह डालते हैं। और अिससे निकलकर जब दूसरी रटपर चलते हैं, तो गोत्रदेवता, ग्रामदेवता, गुरुदेवता, पितृपूजा, ग्रहपूजा, अवतारभक्ति, अलग अलग त्योहारोंकी

अलग अलग देवपूजा, श्रुति – स्मृति – पुराण – आगम – निगम – मंत्र-तंत्र – .कुरान – बाअिबल वगैरा सबका समर्थन करने लगते हैं। अिसमें हमें दूसरे मतोंके प्रति सहिष्णुता या रवादारी रखने भरसे सन्तोष नहीं होता। हम सर्वमत समभाव — और सर्वमत ममभाव — तक पहुँचते हैं। अनेक देवताओंवाले समाजका अनेक जातियों और छोटे छोटे भौगोलिक विभागोंमें बँटे रहना स्वाभाविक है। काफी विचार करनेके बाद मैंने महसूस किया है कि हमारे समभाव या ममभावका मतलब 'श्रद्धालु नास्तिकता' के सिवा और कुछ नहीं है। किसी चीज़की अच्छाअी या अुसके अस्तित्वमें भले हमारी श्रद्धा न हो, हम अुसे चाहे अिन्सानकी कोरी कल्पना या गैरकुदरती चीज मानते हों, फिर भी अुसके छोड़नेमें डर, या परम्परा जारी रखने या कलाकी कदर करनेके लिअे अुसे पकड़ रखनेका मोह ही हमारी अुपासनाका स्वरूप हो गया है। अिसमें न तो सत्यकी अुपासना है, न निष्ठाकी सरलता और न अनन्यता।

अगर हमें हिन्दू-समाजको और हिन्दू-जनताको अूपर अुठाना है, तो नीचे दिये हुअे सिद्धान्तोंको स्वीकार करनेका साहस हमें करना ही चाहिये :

१. अेक सब जगह फैले हुअे (सर्वव्यापक), सबपर काबू रखनेवाले (सर्वनियता) परमात्माके सिवा दूसरे किसी देव, ग्रह, पितृ, अवतार, गुरु वगैराकी या अुसकी मूर्ति या प्रतीककी अुपासना–पूजा–मन्दिरस्थापना वगैरा न की जाय। और अिस बातका आग्रह रखा जाय कि किसी नाम-रूपात्मक सच्चे या काल्पनिक सत्त्वको अीश्वरकी बराबरीमें या अुसके साथ नहीं रखा जा सकता।

२. कोअी भी शास्त्र–वेद, गीता, .कुरान या बाअिबल भी अीश्वरके बनाये हुअे या अीश्वरकी वाणी नहीं हैं। किसी ग्रन्थको अिस तरह प्रमाण-रूप न माना जाय कि अुसके वचनोंको अपनी विवेकबुद्धिपर कसा ही न जा सके।

३. किसी मनुष्यको अीश्वर या पैगम्बरकी कोटिमें न रखा जाय। किसीको अस्खलनशील, यानी जिसके विचार या बरतावमें भूल हो ही नहीं सकती, अैसा न माना जाय। और अिससे अुसका हरअेक काम शुद्ध, दिव्य, और श्रवण-कीर्तनके लायक ही है, अैसा न समझा जाय।

सामान्य जनताके हितको दृष्टिमें रखकर जो कमसे कम सदाचारके नियम ठीक समझे जाते हों, अुन्हें तोड़नेका किसीका अधिकार न माना जाय और किसी व्यक्तिकी विशेष पवित्रताके कारण तो अुसका यह अधिकार हरगिज़ न माना जाय। यह कोअी नयी बात नहीं कि बुरी वृत्तिके लोग सदाचारके नियमोंका भंग करेंगे, अिसके लिअे समाज अपने ढंगसे अिसे रोकेगा और अैसे लोगोंको सजा भी देगा। नेक वृत्तिके लोग अिन नियमोंका ज्यादा सावधानीसे पालन करेंगे और अुनकी सीमाको लाँघनेकी अिच्छा तक न करेंगे। अिसलिअे अगर महात्मा पुरुषोंने समाजके हितके खिलाफ़ आचरण किये हों, तो अुन्हें ढँकनेकी कोशिश न की जाय; बल्कि यह साफ कहा जाय कि वे अुनकी कमज़ोरियाँ ही थीं। अिसलिअे अैसे चरित्रोंकी तारीफमें पद, भजन वगैरा न बनाये जायँ। अुनका कीर्तन न किया जाय, और न साहित्यमें अैसी अुपमाओं, रूपक वगैरा अलंकारोंका अुपयोग किया जाय। जैसे कि कृष्णकी शृंगारलीला वगैरा।

४. अन्तमें, वही समाज और वही परिवार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तरक्की करता और सुख पाता है, जो निरलस होता है, कंचन-कामिनीके बारेमें नियताचारसे (परहेजके साथ) काम लेता है और खुराकमें तथा सफाअी रखनेमें नियमोंका पालन करता है। राजनीतिके साम-दान आदि अुपाय, धर्मके व्रत-तप और अुपासना, समाजके विवाह और विरासतके नियम, आर्थिक रचना और लेनदेनके कायदे — सबका आखिरी मकसद यही होना चाहिये कि वे प्रजाको निरलस (आलस न करनेवाली, मेहनती), नियताचारी (परहेजसे रहनेवाली), तन्दुरुस्त, और पवित्र जीवन गुजारनेवाली बनानेके लिअे सहूलियतें पैदा करें। यही धर्मकी बुनियाद है। अिन गुणोंके पोषक नियमों, संस्थाओं और परिस्थितियोंका निर्माण करना और अिनसे सम्बन्ध रखनेवाले सत्योंको खोजना ही सारी प्रवृत्तियोंका अुद्देश्य होना चाहिये। अिस तरहके नियमोंका पालन करनेसे ही पिछड़ी हुअी जातियाँ आगे आवेंगी और अुनमेंसे भी जितने व्यक्ति जितनी पीढ़ियों तक अुनका पालन करेंगे, अुतने ही वे अूँचे अुठेंगे। अिन नियमोंका भंग करनेसे ही आगे बढ़ी हुअी जातियोंका पतन हुआ है। जिन पीढ़ियोंमें ये गुण रहेंगे, अुनकी दुर्दशा नहीं होगी।

५. बुद्धने कहा था : **बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि** और **संघं शरणं गच्छामि**। मैं यों कहूँगा कि अेक परमेश्वरका आश्रय लो, धर्मका आश्रय लो, और दूसरे लोगोंके सदाचार — धर्मयुक्त आचरण — का आश्रय लो। परमेश्वरके सिवा दूसरे किसी देव-देवता-दैवतका आसरा न लिया जाय; किसी भी पैदा हुअे या काल्पनिक गुरु, माता या पिता या दूसरे पूज्य व्यक्ति या प्राणियोंको परमेश्वर या परमेश्वरके द्वारा भेजे हुअे या अुससे खास प्रेरणा पाये हुअे न समझा जाय; अधर्मका आचरण न किया जाय; और किसी भी व्यक्तिके (वह चाहे जितना बड़ा हो) अैसे आचार, जिनके ठीक होनेमें सन्देह है, प्रमाण न माने जायँ और न अुनका बचाव किया जाय।

जिस बातपर हमें विचार करना है वह यह है कि हम हिन्दू-धर्मका सिर्फ सुधार करना चाहते हैं, या मानव-धर्मका नया संस्करण करके हिन्दू-समाजमें क्रान्ति करना चाहते हैं।

१०/११-८-'४७

३

क्रान्तिकी कठिनाअियाँ

पिछले परिच्छेदमें प्रगट किये गये विचारोंके रास्तेमें जो बहुतसी बड़ी बड़ी कठिनाअियाँ हैं, अुनपर भी विचार कर लेनेकी ज़रूरत है।

पहले तो आखिरमें दिये हुअे पाँच प्रतिपादनोंके सच्च और मौज़ूं होनेके बारेमें हमें खुदको यकीन होना ही आसान नहीं है। कअी लोगोंको अिसमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका निषेध मालूम होगा; कअीको अपनी अपनी मर्ज़ीके मुताबिक अुपासना करनेकी आज़ादीपर आघात होता जान पड़ेगा; कुछको विविधतामें अेकता देखनेकी अुदार दृष्टिका विरोध दिखाअी देगा; सगुण-निर्गुण, अद्वैतसिद्धि, समदृष्टि आदिकी अनेक हरकतें पेश की जायेंगी। हमें अिन सारी बातोंका खुलासा करना और अुन्हें लोगोंको समझाना होगा।

मान लीजिये कि लोगोंको समझानेमें हम सफल होते हैं, तो बादमें आचारकी कठिनाअियाँ खड़ी होंगी। हजारों अल्मारियाँ भर सकें, अितना विशाल हमारा देव गुरु-पूजा और भक्तिका साहित्य, पूजा और यज्ञोंकी लुभावनी विधियाँ, हजारों मन्दिर, अुनकी बेशुमार सम्पत्ति वगैराका विसर्जन करनेके लिअे कहनेकी यह बात है। अिन सबके प्रति रहनेवाला मोह, अिनपर रहनेवाली हमारी श्रद्धा, कला और सुन्दरताकी भावना किस तरह छूट सकती है? यह बात अपने हाथों अपने शरीरकी चमडी अुतारने जसी कठिन है। पं० जवाहरलाल जसे बुद्धिसे अीश्वरके बारेमें नास्तिकभाव रखनेवाले व्यक्तिको भी कमला नेहरू अस्पतालके खात मुहूर्तके वक्त और अिन्दिराकी शादीमें सारे वैदिक कर्मकाण्ड करानेमें रस मालूम हुआ। मक्काकी मस्जिदमेंसे ३६० देवताओंको हटाते वक्त मोहम्मद साहबको जितनी कठिनाअी हुअी होगी, अुससे हजार गुनी कठिनाअी अिस काममें है।

यह होते हुअे भी, जब अिन्सानकी धर्म बदलनेमें श्रद्धा होती है, तब अैसा करनेकी अुसमें ताकत आ जाती है।

मगर यह तो जब हो, तबकी बात रही। सबसे पहले अैसे विचारोंके प्रचारकको यह समझ लेना चाहिये कि अिससे जबरदस्त सामाजिक कलह पैदा होना संभव है। अीशुके कहे मुताबिक अिसमें माँ-बाप और लड़कोंके बीच, पति-पत्नीके बीच, भाअी-भाअीके बीच झगड़ा हो सकता है। क्रान्तिकारी भले अहिंसक रहे, क्षमाभावसे सब कुछ सहता रहे, मगर स्वार्थको धक्का लगनेके कारण या प्रचलित मान्यताकी सच्चाअीमें जबरदस्त श्रद्धा होनेके कारण यह बात जिसके गले न अुतरे, अुसके बारेमें यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह भी अहिंसक तरीकेसे ही विरोध करेगा। बौद्ध, अिस्लाम, अीसाअी या हमारे देशके सामान्य क्रान्तिकारी सम्प्रदाय चलानेवालोंको जसे जुल्मों और मुसीबतोंका सामना करना पड़ा, वैसे ही अिसे भी करना पड़े।

सिर्फ यह कड़वा घूँट तभी गलेसे नीचे अुतर सकता है, जब यह समझ लिया जाय कि क्रान्तिकारीकी किस्मतमें ही यह चीज़ लिखी होती है।

मगर अितनेसे ही कठिनाअियोंका अन्त नहीं हो जाता। सारी मुश्किलोंका सामना करनेके बाद भी यह योजना हिन्दुस्तानमें कभी सफल हो सकती है या नहीं, अिसमें शक ही है।

बौद्ध-धर्मको किस तरह तिलांजलि मिली, अिसे सब कोअी जानते हैं। अीसाअी और अिस्लाम-धर्मका कोअी बहुत प्रचार हुआ हो, अैसा नहीं कहा जा सकता; और हिन्दू-धर्मके सहवासमें अुनका स्वरूप भी कम-ज्यादा मात्रामें हिन्दू-धर्म-मिश्रित बन गया है। खोजा वगैरा सम्प्रदायोंको तो अेक किस्मके खिचड़ी सम्प्रदाय ही कहा जा सकता है। सभी धर्मोंके अेक किस्मके महायान स्वरूप बने हैं। सिक्ख-धर्मकी भी यही हालत हुअी। यह जात-पांतके भेदोंसे भरा हुआ हिन्दू-धर्मका ही अेक पंथ है। कबीर वगैराकी कोशिशें छोटे छोटे पंथ बनकर रह गअीं, और वे भी अुनके शुद्ध रूपमें नहीं। हिन्दू-धर्म अैसा महान् समुद्र है कि सैकड़ों मीठे पानीकी नदियाँ भी अुसके खारेपनको दूर नहीं कर सकतीं, अुल्टे मुखपर पहुँचकर खुद ही खारी हो जाती हैं, और मुँहसे यह आश्चर्य-वाक्य बरबस निकल पड़ता है कि — "सब नदियाँ जल भरि-भरि रहियाँ, सागर किस बिध खारी?"

अिस क्रान्तिके परिणाम स्वरूप अगर अैसा अेक छोटासा नया पथ हो बनकर रह जाय, तो ज्यादा समझदारी अिसमें होगी कि जैसा चल रहा है वैसा ही चलने दिया जाय और छोटे-मोटे सुधारों तक ही अपना मक़सद सीमित रखा जाय।

मगर अैसा माननेवालेको दूसरे धर्मोंके प्रति सहिष्णुता रखकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। अुसे न तो सर्वधर्म-समभाव, या ममभाव-जैसे बड़े बड़े सूत्र पेश करने चाहियें, न दूसरे धर्मवालोंसे अुनकी अपेक्षा रखनी चाहिये। अलग अलग धर्मोंके थोड़े वाक्य लेकर अुनका पाठ करके खिचड़ी अुपासना करनेकी भी कोशिश न की जाय। अिसकी ज़रूरत ही नहीं है। अुसे कमसे कम अितना तो ज़रूर करना चाहिये कि अेक देव, अेक गुरु, अेक शास्त्रका आसरा लिया जाय और दूसरेके झगड़ेमें न पड़ा जाय। "अेको देवः केशवो वा शिवो वा।" "अेक गुरूका आसरा, अेक गुरूसे आस।" "चाहे कोअू गोरे कहो, चाहे कोअू कारे, हम तो अेक सहजानंद रूपके मतवारे।" — अैसी वृत्ति रखी जाय। दूसरे मतका स्वीकार नहीं, तो निन्दा भी नहीं। जिसे जो अच्छा लगे, अुसे माने; मुझे यह अच्छा लगता है, अितना काफी है।

मेरा खयाल है कि वैष्णवाचार्योंकी यह अनन्योपासनाकी विचारसरणी सनातनी खिचड़ी अुपासनासे ज्यादा अच्छी है ।

अिसकी मर्यादाअें भी समझ लेनी चाहिये । अिसके साथ किसी न किसी रूपमें जाति-संस्थाकी जड़ें रहेंगी ही । जाति-भावनासे रहित समाज कायम ही नहीं किया जा सकेगा । ज्यादासे ज्यादा अिसका अेक ढीले और मामूली ताक़तवाले संघके रूपमें ही अेकीकरण हो सकता है । जो लोग बहुत ताक़तवर केन्द्रीय सत्तामें विश्वास नहीं करते — और बापूजीकी अैसे लोगोंमें गिनती की जा सकती है — अुनकी दृष्टिसे अिसे अिष्टापत्ति* कहा जायगा । मगर फिर जात-पॉत तोड़नेकी बात छोड़ देनी चाहिये । आजकी जातियाँ तोड़कर नअी जातियाँ बनानेकी बात भले कहें, मगर यह मानकर चलना चाहिये कि हिन्दू-समाज किसी न किसी तरहकी जाति-व्यवस्था बनाकर ही रहेगा । और अुस हालतमें किसी न किसी प्रकारके धर्म और जातिभेदके आधारपर बने हुअे राजकीय पक्ष और प्रतिनिधित्वका स्वीकार भी करना पड़ेगा और किसी न किसी तरहके पाकिस्तानोंके लिअे भी तैयार रहना पड़ेगा ।

यानी, जैसा कि शुरूमें कहा गया है, हमें दो विकल्पोंमेंसे अेकको स्थिर चित्तसे मंज़ूर कर लेना चाहिये । अगर पहले विकल्पको मंज़ूर करना है, तो दूसरेसे पैदा होनेवाले फल नहीं मिलेंगे और दूसरेके फलोंकी अिच्छा है, तो पहलेको लेकर नहीं चल सकते ।

हिन्दू-समाज और हमारे जैसे सेवा करनेकी अिच्छा रखनेवालोंको अिसपर विचार करके जो अुचित हो, अुसे मंज़ूर करनेका फैसला करना चाहिये, और अुसमें फिर डाँवाँडोल वृत्ति नहीं रखनी चाहिये ।

१२–८–'४७

---

* किसी दलील करनेवालेकी दलीलमें सामनेवाले द्वारा बताया हुआ अैसा दोष जो दलील करनेवाला मंज़ूर कर ले और अुसे अपनी खूबीके तौरपर समझा दे ।

४

पाँच प्रतिपादनोंमेंसे पहला

दूसरे परिच्छेदमें जो पाँच प्रतिपादन पेश किये गये हैं, अुन्हें माना जा सकता है या नहीं, अिसपर मैं यहाँ विचार करना चाहता हूँ।

पहला प्रतिपादन

मानो परमात्मा अेक केवल।
न मानो देव-देवता-प्रतिमा सकल ॥
न मानो कोअी अवतार-गुरु-पैगम्बर ॥
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
सब सद्‌गुरु-बुद्ध-तीर्थंकर।
न कोअी सर्वज्ञ अस्खलनशील।
भले अूँचा रहबर ॥

जो भगवानके अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं करते या जो अुसके सहारेकी ज़रूरत ही नहीं समझते, अुनके बारेमें यहाँ विचार करनेकी ज़रूरत नहीं है। क्योंकि अुन्हें तो 'मानो परमात्मा अेक केवल' के सिवा बाकीके सब प्रतिपादन मान्य ही रहेंगे। मगर जो लोग भगवानको मानते हैं, अुन्हें बाकीके चरण मान्य रहेंगे ही, अैसी बात नहीं है। क्योंकि अिन्हें माननेमें धार्मिक क्रान्ति — धर्मान्तर जैसी बात होती है।

[१]सर्वं खल्विदं ब्रह्म, [२]तत्त्वमसि, [३]अयमात्मा ब्रह्म, [४]सोऽहम्, [५]शिवोऽहम्, [६]तद्‌ब्रह्म निष्कल्महम्, [७]वासुदेवः सर्वम्, [८]गुरुः साक्षात् परब्रह्म, [९]यदा यदा हि धर्मस्य . . . सम्भवामि युगे युगे, [१०]सिद्ध, [११]सर्वज्ञ, [१२]तथागत, [१३]अीश्वर-प्रेषित, [१४]अीश्वर-पुत्र वगैरा विचारोंका अिसमें विरोध होता जान पड़ता है।

विचार करनेपर मालूम होगा कि अिनमेंसे आठ वाक्य अेकदेशीय सत्य हैं, यानी अमुक दायरेमें ही सच है; अुस दायरेसे बाहर अुन्हें लागू करने जायँ, तो वे भुलावेमें डालते हैं और भ्रम पैदा करते हैं। अैसा भ्रम अच्छी तरह पैदा हो भी चुका है।

> सत्यपि भेदाऽपगमे नाथ तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्
> सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥
> आदमको खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।
> मगर खुदाके नूरसे, आदम जुदा नहीं ॥

वगैरा वचन अूपरके वाक्योंको गौण करनेवाले (Modifiers और correctives) हैं, और यह गौणता अवतार–सद्गुरु–सिद्ध–पैगम्बर वगैरा पदोंका अपनेमें आरोप करनेवाले या अैसी भावना रखनेवाले और अुनके अनुयायी दोनोंको याद रखनी चाहिये। अूँचेसे अूँचे 'अवतार', 'ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु', 'सिद्ध', 'बुद्ध' वगैराका स्थान भी भगवानसे गौण है। अेक बड़ा फर्क तो ब्रह्मसूत्रकारने ही बतला दिया है। अिन्सान चाहे जितना बड़ा योगीश्वर, विज्ञानवेत्ता, सिद्ध, विभूतिमान और प्रकृतिके तत्त्वोंपर काबू रखनेवाला हो, वह सारे संसारका नियंत्रण — अुत्पत्ति–स्थिति–लय नहीं कर सकता। ससारकी शक्तियोंके अधीन अुसे रहना ही पड़ता है। अिसके सिवा, वह ब्रह्मकी सारी शक्तियोंको अेक ही बारमें अपनेमें प्रकट नहीं कर सकता। अुसकी सगुणता कभी सर्वगुणता हो नहीं सकती, वह हमेशा अधूरी ही रहती है। सुअी और कुल्हाड़ी दोनों लोहेसे बनी होनेपर भी जिस तरह सुअीके रूपमें रहनेवाला लोहा कुल्हाड़ीकी ताक़त नहीं दिखला सकता और कुल्हाड़ीके रूपमें रहनेवाला लोहा सुअीकी ताक़त नहीं दिखला सकता, अुसी तरह अिन्सान चाहे आध्यात्मिक अूँचाअीकी आखिरी हद तक पहुँचा हुआ हो, फिर भी मानवके रूपमें रहनेवाला ब्रह्म, अमानव रूपमें रहनेवाले ब्रह्मकी शक्तियाँ प्रकट नहीं कर सकता। और जब वह अेक प्रकारकी शक्ति प्रकट करता है, तब दूसरे प्रकारकी शक्ति गायब हो जाती है। गीताकार जैसे भव्य कल्पना करनेवाले कविका विराटपुरुष भी सिर्फ अपनी भयंकर, कालरूप विभूतियोंका ही दर्शन कराता है। मगर सचमुचके संसारमें तो जिस वक़्त

भयंकर संहार चल रहा होता है, घोर अधर्म और हिंसाका साम्राज्य फैला होता है, अुसी वक्त सुन्दरता, धर्म, प्रेम, आदिका सर्जन और पोषण भी होता रहता है। अिसलिअे अिस्लाम और यहूदी धर्मके अिस आग्रहमें काफी औचित्य है कि चाहे जैसी — ज्ञानदशा, शुद्धता या योगसिद्धिकी अूँचाअी तक पहुँचा हुआ व्यक्ति हो, अुसे साक्षात् परब्रह्मकी बराबरीमें न बैठाया जाय। हिन्दुओंको यह सत्य मानना और अिसकी विरोधी मान्यताओंको छोड़ना ही पड़ेगा। अिस तरह शुद्ध और साधारण अीश्वरवाचक नामोंकी बराबरीमें देव, देवी, अवतार, गुरु, सन्त वगैराके नाम लेना और अुनके गीत गाना ठीक नहीं है। और जो अिसमें दोष देखता है, वह अगर अिसमें भाग लेनेसे अिनकार करे, तो अुसपर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि अुसमें सर्वधर्म-समभावका अभाव है। अिसे वैसा ही समझना चाहिये जैसे कि अहिंसा-धर्म माननेवाला व्यक्ति पशुयज्ञोंमें या अैसी पूजाविधियोंमें शामिल होनेसे अिनकार करे जिनमें मांस, शराब वगैराका भोग लगाया जाता है।

अिसका यह मतलब नहीं कि यहाँ सगुणोपासनाका बिलकुल निषेध किया जा रहा है, या महापुरुषोंके लिअे आदरभाव, भक्ति, या अुनके अच्छे गुणोंका गान करनेकी बिलकुल मनाही की जा रही है। यह निर्गुण अुपासना नहीं है। यहूदी और अिस्लाम धर्ममें अीश्वरपर आकारका आरोप करनेकी मनाही है, मगर यह निर्गुण अुपासना नहीं, रामानुजकी भाषामें कहें तो यह 'सकल कल्याणकारी गुणों'का आरोप करनेवाली सगुणोपासना है। रहीम, रहमान, मालिक, रब्ब, सबको पैदा करनेवाला, करुणासागर, भक्तवत्सल, सन्मार्गदर्शक, सर्वशक्तिमान, नियामक आदि गुणोंका आरोप अिनको भी मान्य है। मगर रामानुजने अिनके साथ लक्ष्मीनारायण आदि साकार मूर्तियोंकी भी कल्पना की है। और अैसी कल्पनाका अिन्होंने त्याग किया है।

वेदान्तमें निर्गुण, निराकार शब्दोंने बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी है। अुचित शब्द ये होते — सर्वगुणबीज, सर्वगुणाश्रय, सर्वनामरूपका कारण और आश्रय। सारे शुभ और अशुभ गुणोंका, विभूतियोंका और सृष्टिका यही बीज, आश्रय, कारण, गति आदि है। मगर अुनमेंसे श्रेयार्थी मनुष्योंके

लिअे अशुभ और अल्प गुण, विभूतियाँ और अुनका सर्जन अुपास्य या ध्येय नहीं हो सकते । अिसलिअे साधक चिन्तन और अुपासनाके लायक गुणों और शक्तियोंको ही पसन्द करता है और चित्तके आदर्शरूप अुत्कर्षके लिअे भगवानकी कल्पना कल्याणकारी गुणों और शक्तियोंके महासागरके रूपमें ही करता है ।

कल्याणकारी और प्राप्त करने लायक गुण और शक्तियाँ कौनसी हैं, अिसके बारेमें किसी भी देशके भक्तों, श्रेयार्थियों या विचारकोंमें ज्यादा मतभेद नहीं हो सकता । मगर किसी आकारकी सुन्दरता या कल्याण-मयताका आदर्श ठहरानेकी कोशिश की जाय, तो अनेक मत खड़े होते हैं । शुभ और अशुभ गुण और शक्तियाँ कौनसी हैं, अिसका निर्णय सब देशोंके भले लोगोंके अनुभवके आधारपर होता है । मगर श्रेष्ठ आकार कौनसा है, अिसके लिअे अनुभवका आधार नहीं मिलता । सिर्फ कल्पना-शीलता और परम्परागत संस्कारका ही अिसमें आधार लिया जाता है ! आकार और अुसकी पूजाओंमेंसे विसंगत अुपासनाअें और पंथ पैदा होते हैं। यहूदी और अिस्लाम धर्मोंने आकारका अन्त करके जुदी जुदी अुपासनाअें और पूजाअें प्रचलित होनेकी सम्भावना कम कर दी । हिन्दू-धर्मने अिसे आदर दिया, तो घर घर अलग अलग किस्मके देवचौके बने ।

अितना अिस परिच्छेदकी शुरूआतमें दिये हुअे चौदह वाक्योंमेंसे आठके बारेमें हुआ । अब किसीके अवतार – सिद्ध – सर्वज्ञ – पैगम्बर वगैरा होनेकी मान्यताके बारेमें विचार करें । यह स्पष्ट है कि ये सब कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं हैं । संसारमें बहुत ही अूँचे — लोकोत्तर — व्यक्ति पैदा होते हैं; अुनके अनेक चाहनेवाले और माननेवाले भी बन जाते हैं; लेकिन अुन्हें पैगम्बर, अवतार, वगैरा समझनेमें अुनके द्वारा निर्मित और परम्परासे पोषित श्रद्धाओंके संस्कारके सिवा अिसके पीछे किसी सर्वमान्य अनुभवका आधार नहीं है ।

मगर अिन कल्पनाओंने दुनियामें कअी तरहके झगड़े और पंथ खड़े किये हैं । परमेश्वर और मनुष्योंके बीच ये लोग पेशवा या प्रधानमंत्री बनाये गये हैं । अिंग्लैण्डका राजा कौन है, अिसपर कोअी झगड़ा नहीं; मगर राज्यमें किसका हुक्म चले, कौन प्रधानमंत्री बने और राजाके नाम-

पर हुकूमत करे, अिसपर झगड़े होते हैं। अुसी तरह झगड़ा परमेश्वरके बारेमें नहीं, बल्कि अिस बातपर होता है कि किस अवतार – पैगम्बर – गुरु – सिद्ध – बुद्ध वगैराकी आज्ञा — हुक्म — चलें। मनुष्योंने बहुत कुछ अपने अपने राजकीय कारोबार और अिन्तजामके अनुरूप ही अीश्वरकी व्यवस्थाओंके बारेमें कल्पना की है। जिस तरह हमारे यहां बड़े-बड़े ओहदे हैं, जेल है, पुलिस है, अुसी तरह हमने भगवानके शासनमें भी देव, फरिश्ते, स्वर्ग, वैकुंठ, गोलोक वगैरा धाम, और अुत्पत्ति, पालन, प्रलय वगैराके लिअे अलग अलग मंत्री, यमदूत और नरककुंड आदि माने हैं।

अिसलिअे हमें अिन सारी काल्पनिक अुपासनाओंका दृढ़तापूर्वक त्याग करना चाहिये। और सिर्फ अितना ही ध्यानमें रखना चाहिये कि —

मानो परमात्मा अेक केवल।
न मानो देव–देवता–प्रतिमा सकल॥
न मानो कोअी अवतार–गुरु–पैगम्बर॥
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
सब सद्गुरु–बुद्ध–तीर्थंकर।
न कोअी सर्वज्ञ–अस्खलनशील।
भले अूँचा रहबर॥

१३–८–'४७

५

दूसरा प्रतिपादन

न कोअी शास्त्रका वक्ता परमेश्वर ।
न कोअी विवेकके क्षेत्रसे पर ॥

पहले प्रतिपादनको मान लेनेके बाद दूसरेको स्वीकार करनेमें ज्यादा मुश्किल नहीं मालूम होनी चाहिये । फिर भी मुमकिन है थोड़ी मुश्किल जान पड़े । कअी बार मनुष्योंके मुँहसे, और खास करके परमेश्वर-परायण मनुष्योंके मुँहसे, अैसे लोकोत्तर वचन निकल पड़ते हैं कि अगर वे सोच-विचार कर कहना चाहते, तो नहीं कह सकते । वे खुद भी नहीं बतला सकते कि अुन्हें अिस तरह बोलना कैसे आया, और दूसरोंको भी अिसमें आश्चर्य मालूम होता है । बोलनेवाले और सुननेवाले दोनोंको लगता है कि अिन वाक्योंका कर्त्ता कोअी और ही है । मानो कोअी अन्तर्यामी अुनसे बुलवा रहा है । ये वाक्य अगर अीश्वर-तत्त्वके बारेमें, मनुष्योंके धर्मके बारेमें, या किसी खास प्रश्नके बारेमें हों, और अुन्हें सुनते ही अुस ज़मानेके लोगोंकी कोअी समस्या हल होती हो, तो अुसे अीश्वरकी आज्ञा या अीश्वरप्रेरित वाणी माननेका दिल हो जाता है । और अगर वह कोअी भविष्यवाणी हो और आगे चलकर बिलकुल सच निकले, तो अीश्वरके साथ अुसका सम्बन्ध जोड़ते देर नहीं लगती ।

गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि लोकोत्तर वाणी या दूसरोंके मनमें विश्वास पैदा करनेवाले सत्यवचन सिर्फ परमेश्वर–परायण मनुष्योंके मुँहसे ही निकलते हैं, अैसा हमेशा देखनेमें नहीं आता । कअी बार अज्ञान बालकोंके मुँहसे, किसी वक्त पागल जैसे लगनेवाले लोगोंके मुँहसे और कभी कभी नशेमें चूर मनुष्योंके मुँहसे भी लोकोत्तर सत्य निकल पड़ते हैं । अिसलिअे अपने मन और विवेककी शुद्धिके लिअे लगातार कोशिश करनेवाले और मानव समस्याओंकी गहराअीमें अुतरकर अुनका अध्ययन करने और अुनपर विचार करनेवाले, परमेश्वर-परायण या तद्विद्या-परायण मनुष्योंके मुँहसे अगर जाने या अनजाने लोकोत्तर सत्य मत

ज्यादा प्रमाणमें निकलें, तो अिसमें आश्चर्यकी कोअी बात नहीं है। मगर अिस तरह प्रकट किये गये मतोंमें कभी भूल होती ही नहीं — वे हमेशा और आखिर तक सच्च ही साबित होते हैं, अैसा निरपवाद अनुभव नहीं है।

अिसलिअे मत व्यक्त करनेवाला या अुद्गार निकालनेवाला व्यक्ति चाहे जितना महान हो, अुसके किसी वचनको अैसा नहीं मानना चाहिये जिसे विवेककी कसौटीपर कसे बगैर सिर्फ श्रद्धावश स्वीकार किया जा सके। जो परमेश्वरकी ही वाणी हो, अुसकी सत्यताके बारेमें तो सभीको सुनते ही या अनुभव करते ही विश्वास हो जाना चाहिये। अगर वह सिर्फ वक्ताके प्रति श्रद्धा रखनेवालेको ही मानने योग्य लगे और दूसरेको मान्य होना तो दूर रहा, अुसमें दोष तक नजर आयें, तो वह परमेश्वरकी वाणी तो हो ही नहीं सकती। वह चाहे सोच-समझकर अिरादतन कही गअी हो, या अनजाने ही वक्ताके मुँहसे निकल पड़ी हो, या चाहे किसी योगावस्था या चित्तकी खास तरहकी अवस्थामें कही गअी हो, किसी भी हालतमें अुसे परमेश्वरकी वाणी समझनेकी ज़रूरत नहीं है। हमें अिन्सानके सभी अुद्गारोंको अुसकी बुद्धिसे या भावावेशसे निकले हुअे समझने चाहियें। और जिस हद तक वे अनुभव और विवेककी कसौटीपर खरे अुतरें, सिर्फ अुसी हद तक अुन्हें ग्रहण करने लायक समझना चाहिये।

अलबत्ता, अिसे व्यवहारके आधारपर समझना होगा। सिर्फ सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो यों भी कहा जा सकता है कि जो सार्थक या निरर्थक, सच्च साबित होनेवाले या झूठ ठहरनेवाले शब्द हमारे मुँहसे निकलते हैं, वे सब अीश्वरप्रेरित ही हैं। अीश्वरके सिवा दुनियामें अन्य किसीका कर्तृत्व-वक्तृत्व है ही नहीं। यानी यहाँ जो कुछ होता है वह सब अीश्वर ही करता है और जो कुछ कहा जाता है, अुसका कहनेवाला भी अेक अीश्वर ही है। मगर अैसा मान लेनेसे मनुष्योंके — ज्ञानियोंके भी — व्यवहार नहीं चलते, चल नहीं सकते। सभीको विवेकबुद्धिका अुपयोग करके तारतम्य समझना ही पड़ता है।

यहाँ अिस तत्त्वचर्चामें पड़नेकी ज़रूरत नहीं है कि कर्तृत्व-वक्तृत्व वगैरा मनुष्योंके कितने और परमेश्वरके कितने; या कर्मों तथा वचनोंके लिअे प्राणी कितने जवाबदार हैं और भगवान कितना। मनुष्योंके व्यवहार अुनमें

कर्तृत्व-वक्तृत्वका आरोप करके ही चलाये जा सकते हैं। अिसलिअे सारे कर्मों और वचनोंको अपने अपने विवेककी कसौटीपर कसनेका सबको अधिकार है, कर्त्तव्य भी है। जहाँ खुदकी बुद्धि काम नहीं देती, वहाँ मनुष्य अुस व्यक्तिके निर्णयके आधारपर चलता है, जिसे वह अपनेसे ज्यादा विवेकी मानता है। मगर अैसा करनेसे पहले वह अपने विवेक या परम्परागत संस्कारके आधारपर अुस व्यक्तिको अपनेसे ज़्यादा विवेकी ठहरा चुकता है। जहां सिर्फ परम्परागत संस्कारके आधारपर ही अैसा किया जाता है, वहां यह केवल श्रद्धाका ही परिणाम होनेकी वजहसे अिसके लिअे अूपर दिया हुआ प्रतिपादन अुपयोगी होगा।

अगर अूपरका प्रतिपादन मान्य हो, तो अेक दूसरी बौद्धिक कसरतसे भी मनुष्योंका — खास करके पण्डितोंका — पीछा छूटे। शास्त्रवचनोंको अीश्वर-प्रणीत माननेसे अुन सबमें अेकवाक्यता दिखानेकी कोशिश होती है। अगर यह मान्यता न होती, तो प्रस्थानत्रयी रचनेकी झंझटमें हमारे आचार्य न पड़े होते। अलग अलग कालोंमें शायद अेक दूसरेसे अपरिचित विचारकोंद्वारा बनाये हुअे अुपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों, गीता, पुराण वगैरामें अेक ही अर्थ, अेक ही सिद्धांत वगैरा अभिप्रेत है, अिसे साबित करनेमें जो खींचतान करनी पड़ती है, वह न करनी पड़े और वैदिक, बौद्ध, जैन, अिस्लाम, अीसाअी वगैरा सारे धर्मोंमें अुद्देश्यकी अेकता दिखानेका प्रयत्न करनेकी ज़रूरत न पड़े। हरअेक धर्ममें कअी बातें समान हैं, कअी भिन्न हैं और बहुतसी परस्पर विरोधी भी हैं। अेक ही धर्मके अेक ही शास्त्रमें भी परस्पर विरोधी विधान मिल सकते हैं। कअी विधि-निषेध अैसे हैं, जिन्हें अमुक देश-काल और संस्कारोंका खयाल रखकर ही समझा जा सकता है। अिन सबमें अेकवाक्यता दिखलानेकी कोशिश करना बेकार मेहनत अुठाना है। और यह अुपरोक्त प्रतिपादनके मुताबिक ग़लत श्रद्धाका ही परिणाम है। अिसलिअे —

न कोअी शास्त्रका वक्ता परमेश्वर।
न कोअी विवेकके क्षेत्रसे पर॥

१४–८–'४७

६

तीसरा प्रतिपादन

सार्वजनिक धर्म सदाचार-शिष्टाचार ।
मुक्त ब्रह्मनिष्ठको भी भंगका न अधिकार ।
भले बुद्धि शुद्ध, चित्त सदा निर्विकार ।।

यह तीसरा प्रतिपादन बहुत महत्त्वपूर्ण है । सच पूछा जाय, तो कोअी माँ-जाया अस्खलनशील नहीं है । मगर सारे धर्मोंमें और अुनसे पैदा हुअे विविध पंथों और खास तौरपर हिन्दू धर्मके पंथोंमें अिस विषयपर विचारोंकी बड़ी गड़बड़ी है, और धर्म-साधना व अधिकारवादके नामपर अिसमेंसे अनेक वामाचार भी निर्माण हुअे हैं । अिसलिअे अिसके बारेमें ज्यादा स्पष्टता करनेकी ज़रूरत है ।

सदाचार-शिष्टाचारके बुनियादी तत्त्व कौन कौनसे हैं, अिसपर हम चौथे प्रतिपादनमें विचार करेंगे । यहाँ अितना कहना काफी होगा कि हरअेक समाजको सदाचार-शिष्टाचारके अैसे नियम बनाने ही पड़ते हैं, जो सबके लिअे बन्धनकारक हों और अुस समाजके हरअेक व्यक्तिका फ़र्ज़ होता है कि वह अुनका पालन करे । सम्भव है, सामान्य तथा अपवादरूप संयोगोंको भी अिन नियमोंमें विचार रखा गया हो । अलग अलग समाजों और बदलती हुअी परिस्थितियोंमें अिनकी तफ़सीलोंमें फेरफार भी हो सकता है और होगा । मगर किसी खास समयमें और खास समाजमें अुनकी बिल्कुल ठीक ठीक व्याख्या चाहे न हुअी हो, फिर भी मामूली तौरपर कुछ मर्यादाअें तो निश्चित की ही गअी होंगी और समाजके विद्वानोंने अपनी लेखनी, अपने शब्दों और अपने बरतावसे अुसका निर्देश किया ही होगा । जहाँ अैसे किसी तरहके नियमोंका स्वीकार या विचार न हो, अुस मानव-समूहको समाज नहीं कहा जा सकता ।

अिन नियमोंका खुले आम या छिपे तौरपर भंग करनेवाले लोग भी हरअेक समाजमें रहेंगे ही । अैसे लोग समाजद्रोही माने जा सकते हैं

और समाज अपने संस्कारों और जानकारीके मुताबिक अिस वृत्तिको रोकने तथा नियम भंग करनेवालेको सजा देने या सुधारनेकी कोशिश कर सकता है ।

हो सकता है कि मामूली आदमी असे नियमोंके अक्षरार्थका, सिर्फ अुनके स्थूल भागका ही पालन करें । अितना ही हो, तब भी वह समाज सुरक्षित रह सकता है । मुमकिन है कि धार्मिक या साधक वृत्तिके लोग अुन नियमोंका ज्यादा लगनसे पालन करें, अुनके पीछे छिपे हुअे अुद्देश्यका खयाल रखकर अपने लिअे अुन नियमोंको और कड़े कर दें, और समाजने जो छूटें देना मंजूर किया हो अुनमेंसे भी अधिकांशका खुद होकर त्याग कर दे । अिस तरह सर्वमान्य नियमोंसे ज्यादा कड़े नियम बनानेवाले और अुनका पालन करनेवाले लोगोंकी संस्थाअें भी बन सकती हैं । अिन्हें अुस समाजके विशेष पंथ या सम्प्रदाय कहा जा सकता है । नियमोंको ज्यादा कड़े बनाने और अुनका पालन करनेकी कोशिशोंमें सम्भव है कभी अुनमें अतिरेकता या ज्यादती हो जाय, अुनका सिलसिला टूट जाय, अुनकी शकल असी विचित्र हो जाय कि देखनेवालोंको हँसी आवे और सारे समाजके लिअे अुनका स्वीकार या पालन करना असम्भव हो जाय । अिस संस्थामें शामिल होने, बढ़ने और लम्बे अर्से तक अुसके नियमोंका पालन करनेवाला व्यक्ति अगर अुसमें रहनेवाली ज्यादतीका त्याग करे और सिर्फ मामूली समाजद्वारा स्वीकृत मर्यादाओंका ही पालन करे, तो अुसे संस्थाविमुख भले कहें, मगर समाजद्रोही, असदाचारी या अशिष्टाचारी नहीं कहा जा सकता । संस्थाकी मर्यादा अुसमें रहनेवालेके लिअे बन्धनकारक हो सकती है, सारे समाजके लिअे नहीं । मगर समाजकी अपनी मर्यादा सबके लिअे बन्धनकारक है ।

मगर जब किसी व्यक्तिको हम अवतार, पैगम्बर, ब्रह्मनिष्ठ, जीवनमुक्त, सिद्ध, बुद्ध, अत्यन्त शुद्ध आदि रूपोंमें मानने लगते हैं, तब अुसके आचारोंके बारेमें अेक अलग किस्मकी श्रद्धा रखने लगते हैं । अुसके जन्म और कर्मोंको 'दिव्य' यानी अमानुषी, अलौकिक, असाधारण समझना और अुसे समाजके विधि-निषेधों, सदाचार-शिष्टाचारके नियमोंसे परे मानना, अुसकी शुद्धतापर शक न करना, अुसे अनुकरणीय न मानने पर भी गेय

— स्तुत्य — मानना, जिस तरह भी तर्क दौड़ाकर अुसका समर्थन किया जा सके अुस तरह समर्थन करना, जहां समर्थन किया ही न जा सके, वहां अुन बातोंकी प्रामाणिकताके बारेमें शंकाअें करना या अुनका कोअी रूपकात्मक अर्थ बैठाना, अैसी अेक श्रद्धाकी कसरत खड़ी होती है। जिसकी अिस व्यक्तिपर श्रद्धा होती है, अुसे अैसा करनेमें कोअी मुश्किल नहीं मालूम होती। अितना ही नहीं, बल्कि खुले या छिपे तौरपर अुसके मनमें अैसी अभिलाषा बनी रहती है कि कोअी अैसा मंगल दिन आवे, जब वह खुद भी समाजके विधि-निषेधोंके बंधनसे परे हो जाय। और जब यह अभिलाषा बलवान हो जाती है, तब वह खुदको भी अपने गुरु या आदर्श पुरुषकी ही तरह शुद्ध-बुद्ध स्थितिकी तरफ पहुंचता हुआ और अन्तमें पहुंचा हुआ समझने लगता है। धीरे धीरे वह छूटें लेने लगता है और वामाचारका केन्द्र निर्माण करता है। अेक तरफसे बहुत कड़े नियमोंके पालनपर जोर देनेवाले और दूसरी तरफसे स्थापक या अिष्ट देवताको अुनसे परे माननेवाले सम्प्रदायोंमें अिस तरह वाममार्ग खड़े हुअे हैं। अूपर दिये हुअे कारणोंसे ही दूसरे लोग अैसे व्यक्तियों और पंथोंको नहीं मानते और अुनकी निन्दा करते हैं; अितना ही नहीं, अुनके स्तुत्य कर्मोंकी कदर करनेकी भी अुनकी वृत्ति नहीं होती।

दुनियामें कअी किस्मकी आश्चर्यकारक घटनाअें, जिसकी कल्पना भी न की जा सके अैसी शक्ति रखनेवाले प्राणी व वनस्पतियां और कुदरतकी व चित्तकी अद्‌भुत शक्तियां बारबार देखनेमें आती हैं। दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें यह विशेषता है कि अुसकी चित्तवृत्ति और शक्तियां अनेक शाखाओंवाली हैं। आपको अेकाध बिल्ली अैसी भले मिल जाय जो दूसरी बिल्लियोंसे बहुत ज्यादा ताकतवर और मोटी हो, मगर अुसमें आपको कुत्तेके स्वभावका दर्शन कभी नहीं हो सकता। वैसे ही किसी कुत्तेमें कभी बिल्लीका स्वभाव नहीं पाया जा सकता। मगर मनुष्यका स्वभाव और बुद्धि अनन्त रूपोंमें विकसित हुअे हैं और कोअी मनुष्य अेक क्षेत्रमें तो दूसरा दूसरे क्षेत्रमें असाधारणता दिखला सकता है। कोअी मनुष्य बिल्लीकी वृत्तिका, कोअी श्वानवृत्तिका, कोअी सिंहवृत्तिका, कोअी सियारवृत्तिका, कोअी गोवृत्तिका तो कोअी घोड़ेकी वृत्तिका हो

सकता है । वह मानो 'प्राणीनां प्राणी, जीवानां जीवः' है । अिसलिअे मनुष्योंमें तरह तरहके लोकोत्तर पुरुषोंका निर्माण होना कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है । सिकंदर, नेपोलियन, हिट्लर, परशुराम वगैरा अेक प्रकारके लोकोत्तर व्यक्ति थे; राम, कृष्ण, मोहम्मद, मनु वगैरा दूसरे प्रकारके; बुद्ध, महावीर, ओशु, कनफ्यूशियस, वगैरा तीसरे प्रकारके; सॉक्रेटीज़, शंकराचार्य वगैरा चौथे प्रकारके; शायद अिन सबका अंश रखनेवाले गांधी पांचवें प्रकारके; अुत्तर और दक्षिण ध्रुवके तथा अेवरेस्टके यात्री, डेविड लिविंग्स्टन जैसे मुसाफिर, महान सैनिक तथा नौसेना, हवाअी सेना वगैराके योद्धा छठवें प्रकारके; महान वैज्ञानिक सातवें प्रकारके । अिस तरह अनन्त प्रकार गिनाये जा सकते हैं । अिन सबमें चाहे जितनी असाधारण शक्तियां हों, हजारों बरसोंमें अैसा अेकाध ही व्यक्ति पैदा होता हो, अुसके पराक्रम और यश चाहे जैसे अद्भुत हों, फिर भी किसीको अतिप्राकृत या अप्राकृत 'दिव्य' माननेकी ज़रूरत नहीं है । सब प्रकृतिके ही काम हैं । क्योंकि कोअी भी अैसा नहीं है, जो अपने खास क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें, मामूली अिन्सानोंके गुण-दोषोंसे और वृत्ति-स्वभावोंसे मुक्त हो । सबमें मानव-स्वभाव ही पाया जाता है; यानी प्राणियोंका सामान्य स्वभाव और धर्म भी पाये जाते हैं; और सबमें मनुष्यकी विशेषता भी पाअी जाती है । अिसलिअे प्राणिधर्मोंके नियमनके लिअे और मनुष्यकी विशेषताका समाजके फ़ायदेके लिअे अुपयोग करनेके लिअे जो सदाचार और शिष्टाचार ज़रूरी माने जायँ, अुनसे किसीको परे न समझा जाय, और न कोअी अपने आपको अुनसे परे समझे । अिस तरह मानने और मनवानेवाले दोनों दोषी हैं ।

सार्वजनिक धर्म सदाचार-शिष्टाचार,
मुक्त ब्रह्मनिष्ठको भी भंगका न अधिकार;
भले बुद्धि शुद्ध, चित्त सदा निर्विकार ।

१६/१८-८-'४७

७

चौथा प्रतिपादन

जिज्ञासा, निरलसता, अुद्यम ।
अर्थ व भोगेच्छाका नियमन ॥
शरीर स्वस्थ व वीर्यवान ।
अिन्द्रियाँ शिक्षित, स्वाधीन ॥
शुद्ध, सभ्य, वाणी अुच्चारण ।
स्वच्छ, शिष्ट वस्त्रधारण ॥
निर्दोष, आरोग्यप्रद, मितआहार ।
संयमी, शिष्ट स्त्री-पुरुष व्यवहार ॥
अर्थव्यवहारमें प्रामाणिकता व वचनपालन ।
दम्पतीमें अीमान, प्रेम व सविवेक वंशवर्धन ॥
प्रेम व विचारयुक्त, शिशुपालन ॥
स्वच्छ, व्यवस्थित, देह, घर, ग्राम ।
निर्मल, विशुद्ध जलधाम ।
शुचि, शोभित सार्वजनिक स्थान ॥
समाजधारक अुद्योग व यंत्रनिर्माण ।
अन्न-दूध-वर्धन-प्रधान ।
सर्वोदयसाधक समाज विधान ॥
मैत्री-सहयोगयुक्त जन-समाश्रय ।
रोगी-निराश्रितको आश्रय ॥
ये सब मानव-अुत्कर्षके द्वार ।
समाज-समृद्धिके स्थिर आधार ॥

सदाचार कहें, शिष्टाचार कहें, नीति कहें, या मानवधर्म कहें, समाज और व्यक्तिके धारण-पोषण और सत्त्वशुद्धिके लिअे ये ही नियम या शर्तें हैं । जो व्यक्ति, परिवार, जातियाँ या प्रजाअें अिन नियमोंको

पालती हैं, वे समृद्ध हो सकती हैं; अिनका भंग शुरू होनेके बाद वे अपनी समृद्धिको ज्यादा लम्बे समय तक टिका नहीं सकतीं। चाहे जिस मकसदसे अिन नियमोंका भंग या अिनके पालनमें शिथिलता की जाय, अैसा करनेवाले समाजको अुससे हानि ही होगी।

यह निश्चित है कि समाजके प्रति रहनेवाले अपने कर्त्तव्योंके बारेमें लापरवाह, भोगरत, स्वार्थी या अज्ञानी और बालकों जैसे स्वभाववाले स्त्री-पुरुष अिन नियमोंके पालनमें शिथिलता अवश्य दिखावेंगे। अिसलिअे अिनका पालन करनेके लिअे समाजके नेताओं और शासकोंको हमेशा तत्पर रहना होगा। अूपर बतलाये हुअे ध्येयोंकी सिद्धिके लिअे कमसे-कम किस तरहके स्थूल व्यवहारके नियम हों, तथा लोगोंमें अुनके अनुकूल आदतें डालनेके लिअे किस तरहकी अनुकूल तालीम तथा बाह्य परिस्थिति निर्माण की जाय, अिसका निर्णय अुस समाजके अनुभवी, विज्ञानवेत्ता और ज्ञानी-विवेकी पुरुषोंको करना चाहिये और ज़रूरतके मुताबिक अुनमें बार-बार संशोधन भी करना चाहिये। मगर जिस वक़्त जो भी मर्यादाअें निश्चित की गअी हों, वे अुस समाजमें रहनेवाले सब लोगोंके लिअे समानरूपसे बन्धनकारक होनी चाहियें। राजा या संतसे लेकर मज़दूर या कंगाल तक कोअी भी अुनसे परे न माना जाय। जो सामान्य मर्यादाअें निश्चित की गअी हों, अुनसे ज़्यादा कड़े संयम और नियम भले कोअी व्यक्ति या समूह अपने लिअे निश्चित करे, मगर किसीको अुनके अमलमें शिथिलता करनेका अधिकार न रहे।

धर्मों और समाजकी व्यवस्था आज अिस प्रकारकी नहीं है। अेक तरफसे सत्ता, धन और ज्ञानका अधिकारवाद अनेकोंको अूपर बतलाये हुअे सार्वजनिक सदाचारों और शिष्टाचारोंके अेक अंशकी अवगणना करनेकी छूट देता है, तो दूसरी तरफसे त्याग, वैराग्य और मोक्षके आदर्श दूसरे अंशकी अवगणना करनेके और अुनकी अवगणना न कर सकनेवाली सामान्य जनताको पामर समझनेके संस्कार पैदा करते हैं। अुदाहरणके लिअे, आजकी धर्म और समाज-व्यवस्थामें सत्ताधारी, धनिक, ज्ञानी और त्यागी सबको आलस्य छोड़ने और अुद्यम करनेके कर्त्तव्यसे मुक्ति मिलती है। सत्ताधारी और धनिकको अपनी धन और भोगकी

अिच्छापर मर्यादा रखनेकी ज़रूरत नहीं है; धन और स्त्री-सम्बन्धी व्यवहारमें ये लोग बेअीमान और अनियंत्रित, तथा गुरु और ज्ञानी बेपरवाह और सामान्य मर्यादाओंसे परे और स्वतंत्र रह सकते हैं। शुद्ध और सभ्यताभरी भाषा बोलनेका भार अधिकारियों, मालिकों और गुरुओं पर होना ज़रूरी नहीं है। कपड़ोंकी स्वच्छता और शिष्टताका विषय सत्ता, धन और शायद जाति पर निर्भर है। ग़रीब, सामान्य जनता और हल्की मानी जानेवाली जातियोंको कपड़ोंकी स्वच्छता तथा शिष्टताका अधिकार नहीं; त्यागी-वैरागियोंके लिअे मलिनता, फूहड़ता, तथा नग्नता या अर्ध-नग्नता भूषण रूप भी मानी जा सकती है। अिनके लिअे सफाअी और शिष्टता निन्दाकी चीज़ भी हो सकती है। मगर गुरुपद पर पहुँचनेके बाद ये चाहें, तो अपने आपको अिस विषयमें सत्ताधारियों और धनिकोंकी श्रेणीमें रख सकते हैं। निर्दोष, आरोग्यप्रद और मिताहारका धर्म सिर्फ योगाभ्यास करनेवाले ही अपनी मर्जीसे भले पालें; दूसरे लोगोंको बीमारीकी हालतमें जबरदस्तीसे अुसे पालना पड़े तो बात दूसरी है। पति-पत्नीके आपसी व्यवहार, वंश-वर्धन और निजी तथा सार्वजनिक स्वच्छताके मामलोंमें साधारण जनतामें अराजकता जैसी स्थिति है। शास्त्रोंमें बहुत समझदारीके और अति समझदारीके भी अुपदेश भरे हैं, मगर व्यवहारमें सभी मर्यादाअें या तो टूट गअी हैं या टूटती जा रही हैं। दूसरी तरफ पंथों और सम्प्रदायोंमें अैसे नियमोंका विधान होता है, जो खास सहूलियतों और गैरमामूली — आम जनताके जीवनसे भिन्न — जीवन-रचनाके बिना पाले ही नहीं जा सकते। अिकट्ठा करके खाना, स्वादहीन खुराक लेना, अुबला हुआ अन्न ही खाना, अलूना ही खाना, कच्चा ही खाना, दुग्धाहार या फलाहार ही करना, अिस तरह अेकके बाद अेक अैसे व्रतोंकी व्यवस्था है, जिनमें कहीं अति खुराक ली जाती है और कहीं बिलकुल अुपवास किया जाता है। और अिन व्रतोंने निर्दोष, आरोग्यप्रद मिताहारके नियमोंकी जगह ले ली है। स्त्री-पुरुष-व्यवहारके बारेमें भी विवाहकी मर्यादामें रहनेवाले पति-पत्नी भोगमें संयम या विवेकयुक्त वंशवर्धनकी आवश्यकताको नहीं समझते और विवाहके बाहरके क्षेत्रमें संप्रदायोंके नियमोंमें दोनों तरफ अतिरेक है। अेक तरफ तो खुले या छिपे वामाचारी पंथ हैं और दूसरी तरफ औरतोंके

लिअे तो परदा है ही, मगर कुछ सम्प्रदायोंमें पुरुषोंके लिअे भी अैसी मर्यादायें निश्चित हैं, जो करीब-करीब परदे जैसी ही हैं। पहलेमें सबको भोगके साथ मोक्ष दिलानेकी भावना है; दूसरेमें पूरे मानव-समाजको प्रकृतिके असरसे छुड़ानेकी कामना है।

जिस तरह स्त्रीके बारेमें अतिरेक है, अुसी तरह धनसंग्रहके बारेमें भी है। अेक तरफ अपरिग्रहके आदर्शको लेकर अैसे कड़े नियम बने हुअे हैं कि अुनके अनुसार धातु और धनका स्पर्श तक नहीं किया जा सकता। मगर अिसके साथ ही अुस आदर्शको माननेवाले पंथोंके पास अितना धन अिकट्ठा होता है कि अुसे समेटनेके लिअे फावड़ेका अुपयोग करना पड़े और वह धन अुसी आदर्शको रटनेवाले अनुयायियोंकी तरफ़से मिलता है। अर्थात् अुन अनुयायियोंके जीवनको यह अपरिग्रहका आदर्श छू नहीं पाता, अिसीलिअे अैसा होता है। धनको खुद तो छुआ भी नहीं जा सकता, मगर संघके लिअे बेशुमार धन बढ़ानेमें कोअी हर्ज़ नहीं समझा जाता — अैसे परस्पर विरोधी प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप नियमोंके अर्थ करनेमें विचित्र तरीक़े अख्तियार किये जायँ, तो अिसमें नअी बात कोअी नहीं है। जैसे कि धातुके धनको तो धन माना जाय, मगर नोटको न माना जाय; देवोंके गहनों वगैराकी धातुको छूनेमें कोअी हर्ज़ नहीं। पैसे अपने हाथमें नहीं लिये जा सकते, मगर अिसके लिअे नौकर रखा जा सकता है, या खास क़िस्मके शिष्य बनाये जा सकते हैं, आदि।

जल, थल और शरीरकी स्वच्छताके बारेमें भी अैसे ही अतिरेक है। अेक पंथमें अैसी नियम-रचना है कि शरीर धोते रहना, बरतन मांजते रहना, घर-आँगन लीपते रहना और पानी अुबालते या छानते रहना ही सारे दिनका काम हो पड़ता है, तो दूसरे पंथमें अस्वच्छ, अमंगल, अघोरी जीवन अच्छा माना गया है। सार्वजनिक स्वच्छताके बारेमें तो अभी दृष्टि ही अुत्पन्न होना बाकी है।

अिस तरह नियम बनानेमें या तो विवेक, सदाचार, योग्यायोग्यता वगैराकी अवगणना हुअी है या अिस बातकी परवाह नहीं की गअी है कि अिन्सानसे, जो कि क़ुदरतके वशमें है, कितने नियमोंके पालनकी अपेक्षा रखी जा सकती है तथा समाजके धारण-पोषण और सत्त्वसंशुद्धिके

काम किस तरह चल सकते हैं । जिस कामको चार आदमी स्वेच्छासे ही कर सकते हैं — और शायद साथ रहें, तो वे भी नहीं कर सकते — अुसकी सैकड़ों शिष्योंको दीक्षा देकर अुनसे करवानेकी अपेक्षा रखी जाती है और समाजको यह समझानेकी कोशिश की जाती है कि वे ही अेकमात्र नियम या आदर्श हैं ।

अिस तरह विषयको आगे बढ़ाया जा सकता है । संक्षेपमें, अैसे नियम बनानेकी ज़रूरत है, जिनका कोअी भंग तो न कर सके, मगर जिसे ज़रूरत हो वह अुन्हें अपने लिअे ज़्यादा कड़े बना सकता है । और अैसे नियम बनानेके बाद अुनके अनुकूल वातावरण और क्रान्ति निर्माण करनेकी ज़रूरत है ।

श्रेय क्या है, धर्म क्या है, समाज और राजव्यवस्थाका स्वरूप क्या होना चाहिये, व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध क्या हो, अिन सारे मामलोंमें धर्मों तथा पंथों द्वारा स्वीकृत या पोषित सिद्धान्तोंमें और कल्पनाओंमें जड़मूलसे फेरफार हुअे बिना यह हो नहीं सकता । आजके सारे धर्म और पन्थ व्यक्तिको मोक्ष दिलानेके लिअे समाज पर ज़्यादा बन्धन, पाप, दुःख या श्रमका बोझ डालते हैं; और वैसा बोझ अुठानेवालोंको अुसके बदलेमें अज्ञानी, मायामें फँसे हुए, पामर आदि विशेषण मिलते हैं ।

२१-८-’४७

८

पाँचवाँ प्रतिपादन

पहले चार प्रतिपादनोंके विस्तारके बाद पाँचवेंके बारेमें ज्यादा कहने जैसा कुछ रह नहीं जाता। यह चारोंके अुपसंहार जैसा है। अिसमें बतलाया गया है कि—

रखिये परमेश्वरका ही आश्रय।
न किसी सर्जित-कल्पितमें पैगम्बर-अीश्वरपनका निश्चय॥
मानिये अुसीको विवेकयुक्त सदाचार।
जिससे न पोषित हो कभी भी अनाचार॥
लीजिये सत्पुरुषोंके सत्कर्मोंका ही आधार।
कीजिये कथाओं-शास्त्रोंका विवेकसे त्याग या स्वीकार॥
न प्रमाणिये कोअी संशययुक्त आचार।
चाहे जितना बड़ा हो आचरनार।
या चाहे जैसे शास्त्रका भी आधार॥
धर्म हों, भले नित्य, नैमित्तिक, विशेष या साधारण।
करें सबका समान रूपसे पालन॥

अिसका खुलासा करनेमें कुछ बातें पेश की जा सकती हैं। धर्म-अधर्मकी व्याख्या करनेमें क्या दृष्टिकोण होना चाहिये और अुसे कौन निश्चित करे?

यह मानकर चलना चाहिये कि बहुजन समाजमें धन और भोग प्राप्तिकी अिच्छा प्रकट या बीज रूपमें रहेगी ही। किसी अपवादरूप व्यक्तिमें अगर वह न हो, तो अुसके कअी कारण हो सकते हैं। वह अुसकी जन्मसिद्ध लोकोत्तरता या निजी साधना भी हो सकती है, या अुसके शरीर, दिमाग वगैराकी कोअी खामी भी हो सकती है; किसी वक्त ये दोनों अिकट्ठे भी देखे जा सकते हैं। अैसे लोगोंकी स्वाभाविक

या साधना द्वारा बनायी हुअी आदत सबको सिद्ध हो सकती है, ऐसा आदर्श रखकर धर्मके नियम ठहरानेमें भूल होगी। साम्प्रदायिक नियमोंमें अिस किस्मकी भूलें ज्यादातर देखी जाती हैं। अुदाहरणके लिअे मान लीजिये कि किसी पुरुषको धन-स्त्री वगैराके बारेमें अत्यन्त अुदासीनता या वैराग्य सिद्ध हो गये हों, जिससे अुसकी असाधारण चित्तशुद्धि और अुन्नति हुअी हो। अुसका यह वैराग्य जन्मसिद्ध या कुछ जन्मसिद्ध और कुछ साधनासिद्ध भी हो सकता है। अनेक मनुष्योंमें सात्त्विकताका कुछ अंश तो होता ही है। धर्मोपदेश और धर्ममार्गका यह अुद्देश्य होना स्वाभाविक है कि अिस अंशको पोषण मिले। मगर अिसके साथ यह भी याद रखना चाहिये कि सात्त्विक अंशको पोषण मिलना अेक बात है और धन-स्त्री या दूसरे भोगोंकी वासनाका निर्मूल होना बिलकुल दूसरी बात। वह शायद ही कभी अिस तरह निर्मूल हो सकती है या वह बिलकुल निर्मूल होती ही नहीं, और बहुजन समाजके बारेमें तो यह मानकर चलना चाहिये कि अुसमें अिन भोगोंकी तृप्तिके लिअे योग्य अवकाश रखे बिना छुटकारा ही नहीं है। सिर्फ स्थूल कड़े नियमोंका पालन करनेसे अिसमेंसे बिलकुल बचा जा सकता है, ऐसा नहीं होता; मगर होता हो तब भी बहुजन-समाज अिस रास्तेसे चल नहीं सकता। यानी ऐसे कड़े नियम बहुजन समाज मंजूर करे और अुनके मुताबिक आचरण कर सके, ऐसा धर्म बन नहीं सकता। अिस तरह शीलके नये नये बन्धन, या आठ प्रकारका ब्रह्मचर्य, या स्त्री अथवा पुरुषका फरजियात अ-पुनर्विवाह, या फरजियात यावज्जीवन ब्रह्मचर्य, या फरजियात कंथा-कौपीन-धारण या अपरिग्रह व्रत, वगैराके कड़े नियम, अथवा यह संस्कार बनानेका प्रयत्न कि विवाह यानी पतन, गृहस्थाश्रम यानी पामर जीवन, अुद्यम यानी संसार-बंधन, वगैरा बहुजन समाजके लिअे बेकाम और हानिकारक साबित होते हैं। नतीजा यह होता है कि पहले तो अुस पंथमें साधु और संसारी ऐसे दो प्रकारके अनुयायियोंके वर्ग बनते हैं। संसारी अनुयायी नियमोंकी योग्यताको तो स्वीकार करते हैं मगर खुद अुन्हें पाल सकनेकी कमज़ोरी महसूस करते हैं, और अुनमें अपनी सहूलियतके मुताबिक काटछाँट करते हैं। नियमोंकी योग्यता माननेवाले होनेके कारण यह स्वाभाविक है कि अुनमेंसे कुछ

व्यक्तियोंको जीवनकी शुरूआतमें या अन्तमें साधु हो जानेकी अिच्छा हो आवे। जो लोग जीवनके पिछले भागमें साधु होते हैं, वे अगर बहुत कुछ स्थिर हो चुके हों, तो अुन्हें ज्यादा कठिनाअी नहीं पड़ती। मगर शुरूआतके भागमें ही साधु बने हुअे व्यक्तियोंको, जब वैराग्यमें अुतार आता है और बीजरूपमें रहनेवाली वासनाअें जब बारबार प्रकट होती हैं, तब बड़ी घबड़ाहट होती है। साधु तो बन बैठे, कड़े नियमोंका पालन भी शायद कर लें, मगर वासनाअें शान्तिसे रहने नहीं देतीं अिसका क्या किया जाय? साधुसंघमें से निकलते शर्म मालूम होती है और वासनाअें तो दबती ही नहीं। फिर गलत तरीकोंसे वासनाओंका शमन करना या अुनके दाहको सहते रहना, ये दो ही रास्ते रह जाते हैं। अिस तरह 'त्याग न टकेरे वैराग्य विना' वाले भजनमें बतलाअी हुअी हालत होती है। जो बहुजन समाजका आदर्श नहीं हो सकती, जिसमें किसीको ज़बरदस्ती शामिल करना या शामिल होनेके लिअे ललचाना शोभा नहीं देता, जिस स्थितिके प्रति स्वभावसे ही आकर्षण हो तभी वह फायदेमन्द हो सकती है, अुसे सबके लिअे आदर्श बतलाकर और अुसके लिअे खास नियम घड़कर अनेक लोगोंको अुसके दायरेमें लानेकी कोशिश करनेसे अैसी फजीहत होती है।

दूसरी तरफ़से नियम बनानेमें अतिरेकके कारण या देशकाल तथा विचारोंके फेरफारकी वजहसे पुराने नियम चल न सकनेके कारण अथवा कठिन नियमोंका पालन करनेसे मन शुद्ध रहता ही है, अैसा अनुभव न होनेके कारण अैसे खयाल बनने लगते हैं कि सच्ची शुद्धि तो मनकी होनी चाहिये, शुद्ध मनसे जो नियम पाला जाय वही सच्चा है, बाकी सब मिथ्याचार है, सदाचार या समाज-व्यवस्थाके लिअे कोअी सामान्य नियम हो ही नहीं सकते, सारे नियमोंके बन्धन तोड़ने लायक ही समझे जाने चाहियें, हरअेक व्यक्ति अपनी अपनी रुचिके मुताबिक नियम बनाकर जब तक अुसे ठीक लगे अुनका पालन करे, और धीरे धीरे सब नियमोंके बन्धनोंसे छूटना अपना आदर्श रखे, क्योंकि "मन चंगा तो कठौतीमें गंगा" — यह दूसरे प्रकारकी भूल है।

अनेक अर्धसत्य सूत्रोंकी तरह यह सूत्र भी बहुत अनर्थकारी है। क्योंकि मन कोअी अैसी चीज़ नहीं है, जिसे अगर अेकबार धोकर शुद्ध

कर डालें, तो फिर कभी अुसपर मैल चढ़ ही नहीं सकता। वह तो कपड़े जैसा है। अुसे रोज़ाना अच्छी तरहसे धोअिये, फिर भी वह मैला तो होगा ही। अथवा पानी जैसा है; अुसे अुबालकर, भाफ बनाकर फिरसे ठंढा करें, तो भी हवाके संसर्गमें आकर वह फिरसे दूषित हो जायगा। शास्त्रका वचन है कि परमपदका दर्शन करनेके बाद मन अैसा शुद्ध हो सकता है कि फिरसे अुसके दूषित होनेकी सम्भावना नहीं रह जाती। मगर जिन लोगोंकी परम-पदतक पहुँचनेके बारेमें ख्याति है, अुन्होंने अगर आखिर तक समाजकी नियम-मर्यादाओंका पालन किया हो, तो अुन्हें अुन मर्यादाओंको तोड़कर चलनेवाले लोग पूर्णतातक पहुँचे हुअे माननेको तैयार नहीं होते; और जिन्होंने मर्यादाअें तोड़ी हों, अुन्हें मर्यादामें रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ परमपदको पहुँचे हुअे नहीं मानते। सिर्फ अेक किस्मकी भीरुताकी ही वजहसे वे लोग शंकर या कृष्णको मानवसमाजसे परे, पूर्णावतारकी कोटिमें रखकर, अुन्हें चर्चाके क्षेत्रसे बाहर मानते हैं। शिव और कृष्णके लिअे जो अत्यन्त भक्ति रूढ़ हो गअी है, अुसे आघात न पहुँचानेके लिअे ही अैसा हुआ है। मगर अुनके चरित्रोंको अुन्होंने अनुकरणीय नहीं माना है।

जिस तरह गतानुगतिकता क्रान्ति या प्रगति नहीं है, अुसी तरह अनवस्था और सब नियमोंका भंग भी क्रान्ति या प्रगति नहीं है। फेरफार भले जड़मूलसे ही हो, फिर भी वह विवेकयुक्त ही होना चाहिये।

व्यक्ति और समाजकी ज़रूरतोंके बारेमें अेक फर्क़ ध्यानमें रखना चाहिये। यह सच है कि अगर मन बुरे रास्तेपर भटकता फिरे और सिर्फ शरीर ही बाहरी नियमों और आचारोंका पालन करे, तो अिससे व्यक्तिका नैतिक अुत्कर्ष नहीं होता। मगर समाजकी रक्षाके लिअे बहुत बार अितना ही काफी होता है। अेक आदमीकी अपने पड़ोसीकी घड़ी या लड़कीपर बुरी नजर रहती हो, तो वह अपने अुत्कर्षकी दृष्टिसे चोर या व्यभिचारी तो बन चुका; मगर किसी संयमके संस्कारके कारण वह अपनी नापाक अिच्छापर किसी भी तरहका अमल न करे, तो अुसका पड़ोसी सुरक्षित रहता है, और पड़ोसीके लिअे अितना काफी है।

अिसके विपरीत, अगर वह शुद्ध अुद्देश्य लेकर अैसा कोअी काम करे जिससे समाजको खतरा हो, तो अुसके अुद्देश्यकी शुद्धता समाजके प्रति

अुसे निर्दोष ठहरानेमें काफी नहीं होगी। अुदाहरणके लिअे मान लीजिये कि अेक गरीब आदमीको घड़ीकी बहुत ज्यादा जरूरत है। यह आदमी अुस पड़ोसीके घर ज़रूरतसे ज्यादा घड़ियाँ देखता है। अुनमेंसे अेक अुठाकर अगर वह अुस गरीबको पहुँचा दे, तो अुसके हेतुकी शुद्धता अुसे चोर करार देनेसे रोक नहीं सकती। अिसी तरह पड़ोसीके घरको या सामानको वह बड़े सेवाभावसे आग लगा दे या अुसकी लड़कीका हरण करे या अुसे अपने पास सुलाये, तो अुसके हेतुकी निर्मलता सामाजिक दृष्टिसे अुसे अपराधी माननेसे रोक नहीं सकेगी। अुसकी शुद्ध वृत्तिके कारण समाज अुसे माफ कर दे या कम सजा दे, यह जुदी बात है। मगर अुसे वह बेकसूर नहीं मान सकता।

कभी कभी कहा जाता है कि भगवान मनुष्यके भावकी — हेतुकी — शुद्धताको देखता है। बाहरी — स्थूल मर्यादाओंके कम-ज्यादा पालनकी अुसके पास कोअी कीमत नहीं। बहुतसे अर्धसत्य सूत्रोंमेंसे अेक सूत्र यह भी है। ‘भगवान यानी क्या? अुसके देखने न देखनेका क्या मतलब?’ अिसकी तात्त्विक चर्चा छोड़ दें और भगवानकी लोकमान्य कल्पनाको ही स्वीकार करें, तब भी यह कैसे समझा जाय कि भगवान अिस सिद्धान्तके मुताबिक काम करता है? “भगवान भावका भूखा है, वह गरीबके **पत्रं पुष्पं फलं तोयं**से जैसा रीझता है, वैसा धनवानकी लाखों रुपयोंकी भेंटसे नहीं रीझता, **दुर्योधनको मेवा त्याग्यो, साग विदुर घर खाई — सबसे ऊँचो प्रेम सगाई**”, वगैरा शास्त्रों तथा भक्तोंके वचन हमारी श्रद्धाके आधार हैं; तथा जब सज्जन पुरुष भी अिस तरह बरतते हों, तब भगवान अैसा करें तो अिसमें कहना ही क्या, यह न्याय अिसके पीछे है।

अिन सूत्रोंको दर असल यों रखना चाहिये:

१. भगवान सिर्फ स्थूल वर्तन या अर्पणको नहीं देखता, भावको भी देखता है। वर्तन और अर्पणके साथ भाव — हेतु भी शुद्ध होना चाहिये।

२. भगवान भावपूर्वक सर्वार्पण माँगता है। मगर अिस सर्वार्पणकी कोअी अल्पतम मर्यादा नहीं है। और भावकी अधिकतम मर्यादा नहीं है। यदि पत्र-पुष्प ही तुम्हारा सब-कुछ हो और सम्पूर्ण भावसे तुम अुसे अर्पण

करो, तो अुसकी कदर पांच लाख या दो लाखमेंसे अेक लाख रुपयोंके दानकी अपेक्षा भगवान ही क्या — महापुरुष भी — ज्यादा करते हैं।

अिस तरह अशुद्ध मनसे किया हुआ समाज-धर्मका पालन समाजके लिअे काफी माना जाता है तथा शुद्ध हेतुसे किया हुआ अुसका भंग दोषरूप गिना जाता है। यों समाजके धारण-पोषण और रक्षाके लिअे जिन नियमोंका पालन जरूरी है, अुनमें पालनेवालेके मनकी शुद्धि-अशुद्धि गौण रहती है, अेक आचरण ही महत्त्वकी वस्तु है। अपवादरूप प्रसंग नियमोंमें आ ही जाते हैं।

ये नियम बनानेमें नीचे दिया हुआ दृष्टिकोण सामने रहना चाहिये:

१. समाजका बहुत बड़ा भाग मन और अिन्द्रियोंके भोगों और अुनके साधनरूप अर्थप्राप्तिकी, वंशवर्धनकी और कुछ कर बतानेकी अभिलाषाओंसे बिलकुल विमुख नहीं होता, बल्कि अुनसे भरा हुआ होता है। विमुख होना मानव समाजके धारण-पोषण और अभ्युदयके लिअे हानिकर भी माना जा सकता है। अिसलिअे नियम अैसे होने चाहियें, जो अिन अभिलाषाओंकी पूर्तिके अनुकूल हों।

२. अिसके साथ ही यह भी खयाल रखना होगा कि अगर ये अभिलाषाअें निरंकुश हो जायँ, तो वे भी समाज और व्यक्ति दोनोंके अभ्युदयके लिअे और अन्तमें धारण-पोषणके लिअे हानिकारक हो सकती हैं। अिन अभिलाषाओंकी सिद्धि ज़रूरी होते हुअे भी वे ही मानव-जीवनका अन्तिम साध्य नहीं हैं। अिसका साध्य तो मनुष्यमें रहनेवाली अुदात्त भावनाओंका विकास और अुत्कर्ष है। मानव समाजको दुःखमें घसीटनेवाले अज्ञान, भुखमरी, गरीबी, रोग, लड़ाअी, अीर्षा, वैर, विषमता आदि कारणोंका नाश हो, और मनुष्यके ज्ञान तथा प्रवृत्तियोंका मनुष्य-मनुष्यके बीच संप, सहयोग, प्रेम, योग्य समृद्धि, समानता, भ्रातृभाव वगैरा बढ़ानेके लिअे अुपयोग हो, और हरअेक व्यक्तिको अुसकी शक्तियोंका अुचित दिशामें विकास करने और समाजको अर्पण करनेका मौका मिले — ये अिस विकास और अुत्कर्षके स्पष्ट परिणाम हैं। अगर अिसीको व्यक्ति तथा समाजके धारण-पोषण और सत्त्वसंशुद्धिकारी धर्म कहा जाय, तो अिस धर्मकी सिद्धि मानव-जीवनका अन्तिम ध्येय है। अिसके लिअे अभिलाषाओंका

विवेकपूर्वक नियमन भी चाहिये। मोटर चलानेके लिअे जिस तरह अँजिनकी जरूरत है, अुसी तरह अुसकी चालको कम-ज्यादा करने और जरूरत पड़ने पर अुसे खड़ी रखनेके लिअे नियामकों और दाबोंकी भी जरूरत है।

३. कुछ नियमोंके बारेमें दोहरी मर्यादा होती है: कमसे कम अमुक होना चाहिये और ज्यादासे ज्यादा अितना हो सकता है; जैसे कि कमसे कम अितने या अैसे कपड़े पहने हों, और ज्यादासे ज्यादा अितने या अैसे। हरअेकको कमसे कम अितनी मेहनत करनी चाहिये और अितनेसे ज्यादा मेहनत किसीसे नहीं ली जा सकती। कुछ नियमोंमें नीचेकी मर्यादा होती है, कुछमें अूपरकी; जैसे मज़दूरी कमसे कम अितनी होनी चाहिये, आमदनी ज्यादासे ज्यादा अितनी। नियम बनानेमें स्वास्थ्य, नीति और सभ्यता तीनोंका खयाल रखा जाय।

जहाँ कमसे कम अमुक हदतक पालना चाहिये अैसा नियम हो, वहाँ व्यक्तिको अिससे ज्यादा कड़ाअीसे पालन करनेकी छूट रहे, मगर ढीला करनेकी नहीं। जहाँ कमसे कम अमुक होना चाहिये अैसा नियम हो, वहाँ अिससे ज्यादा रखनेकी (अूपरकी मर्यादा निश्चित न की गअी हो तो) छूट दी जा सकती है। जैसे कि किसी जगहपर स्त्रियों और पुरुषोंके लिअे अलग अलग व्यवस्था रखी गअी हो और अुसे बन्धनकारक ठहराया गया हो, तो अुसका भंग कोअी नहीं कर सकता। जहाँ अैसी व्यवस्था सिर्फ स्त्रियोंकी सहूलियतके लिअे ही रखी गअी हो मगर पुरुषोंकी जगहमें स्त्रीको जानेकी छूट हो, वहाँ कोअी स्त्री आग्रहपूर्वक पुरुषोंकी जगहमें न जानेका नियम रख सकती है।

अिस तरह व्यक्तिको परिग्रह तथा जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें संयम बढ़ानेके लिअे नियमोंमें घट-बढ़ करनेका सामान्य अधिकार रह सकता है। मगर अैसी घट-बढ़ करनेकी छूट किसीको नहीं मिल सकती, जिससे संयम टूटनेके लिअे सहूलियत पैदा हो।

अैसे नियम कौन निश्चित करे, यह दूसरा सवाल है। मुझे लगता है कि जिन्हें सामान्य कानून बनानेका अधिकार हो, अुन्हींका नीति-धर्मके कानून बनानेका भी अधिकार समझा जाना चाहिये। यह सच है कि ये सब धर्मचिंतक,

स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकते, और हाथोंकी गिनती करके कुछ बुद्धिमत्ताका माप नहीं निकाला जा सकता। फिर भी, अगर हम अिन लोगोंको भयंकर युद्ध जैसे सामाजिक जीवन-मरणके अनेक गम्भीर काम करनेका अधिकार देते है, तो अुन्हें ये कायदे बनानेका अधिकार भी दिया जा सकता है। आखिर वे भी अलग-अलग कामोंमें अपनी मर्यादा समझते हैं, और जिस कामके लिअे जो योग्य माने गये हैं, अुनकी सलाहके मुताबिक ही अैसे काम करते हैं। अुनकी अितनी समझदारी काफी है। अनुभवके बाद नियमोंमें सुधार करनेका अवकाश तो रहता ही है।

अैसी कोअी स्पष्ट मर्यादाअें नहीं हैं, जिनके अनुसार नीति-धर्म और संसार-व्यवहारके कायदोंके बीच फर्क किया जा सके। जीवनका कोअी भी कार्य नीति-धर्मसे अछूता नहीं है, और दरअसल अैसा कोअी नीति-धर्म या धर्मकी कोअी साधना नहीं हो सकती जिसका संसारके जीवनके साथ सम्बन्ध न हो। यह ठीक है कि काल्पनिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली साधनाअें या नीति-धर्मके नियम भी होते हैं। लेकिन यदि वे सांसारिक जीवनके नीति-धर्मको तोड़नेवाले हों, तो अुन्हें बुरे ही समझना चाहिये।

यह तो होगा ही कि समाज द्वारा बनाये हुअे नियमोंमेंसे कुछ नियम किसीको अड़चनरूप मालूम पड़ें और किसीको वे प्रामाणिक रूपसे बुरे लगें। अैसे लोग सत्याग्रह-वृत्तिसे या जबर्दस्तीसे अुनका भंग करेंगे। और भंग करनेके नतीजे भी भोगेंगे। अुनके भंगके पीछे अगर कुछ तथ्य होगा, तो समाजको आगे-पीछे अुन नियमोंमें सुधार करना ही पड़ेगा। समाजकी सारी व्यवस्थामें सुधारका यही रास्ता है। और वह अनिवार्य है।

२६–८–'४७

९

प्रचलित धर्मोंका अेक सामान्य लक्षण

सर्वधर्म-समभावके समर्थनमें अेक बात यह कही जाती है कि सब धर्मोंमें आध्यात्मिक, पारमार्थिक और सात्त्विक जीवनके सम्बन्धमें महत्त्वके सिद्धान्त अेकसे ही है। सब धर्म परमेश्वरकी भक्ति और आश्रय तथा सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, संयम वगैरा सन्त-गुणोंके अनुशीलन वगैरा पर अेकसा भार देते हैं। देश-काल आदिके फेरफारके कारण विगतोंमें थोड़ा बहुत फर्क भले दीखे, मगर अुसे किसी भी धर्मके संत पुरुष ज्यादा महत्त्व नहीं देते। अिसलिअे सारे धर्म समान आदरके पात्र हैं।

सब धर्मोंमें अेक दूसरा सिद्धान्त भी समान है, और बदकिस्मतीसे वह सिद्धान्त आजकी समस्याओंका हल खोजनेमें कठिनाअियाँ खड़ी करता है। समाज-धर्मके पालनमें यह सिद्धान्त बाधक होता है, और मनुष्यको — खास करके श्रेयार्थी वृत्तिके मनुष्यको — समाज धर्मकी अवगणना करना भी सिखाता है। वह सिद्धान्त व्यक्तिकी अमरता और मोक्षका है। मनुष्यका जीतेजी अनुभव होनेवाला अपना व्यक्तित्व अनादि-अमर है; मरनेके बाद पुनर्जन्म द्वारा, या स्वर्ग-नरकके वास द्वारा वह चालू रहता है, और मनुष्यका सच्चा काम अिस ससारको सुधारना नहीं, बल्कि परलोककी (यानी भविष्यमें अच्छे जन्मकी अथवा नरकका निवारण करके अखंड स्वर्ग या निर्वाणकी) प्राप्ति है; अैहिक जीवनमें जितना दुःख अुतना ही पारलौकिक जीवनमें सुख — ये सारे संस्कार अिसमेंसे ही पैदा हुअे हैं। घरमें छप्पर चूता हो, तो खुद छाता खोलकर बैठ जाना चाहिये, और अिसी तरह घरके लोगोंको भी अपनी अपनी सहूलियत कर लेनी चाहिये; श्रेयार्थी पर अिस तरहका बहुत तीव्र संस्कार पड़ा रहता है। रात और दिनकी तरह परलोक और अिस लोकके बीच, समाजके — ससारके — धर्मों और मोक्षके धर्मोंके बीच विरोध माना गया है। मोक्ष धर्ममें चलनेकी अशक्तिके परिणाम स्वरूप समाज-जीवनमें प्रवृत्ति होती है।

अिसके द्वारा जितनी चित्तशुद्धि हो, अुतना ही अिसमें हित है। आखिरी ध्येय तो निवृत्ति, व्यक्तिगत साधना, अपना स्वर्ग या मोक्षरूपी परलोक है। अिससे समाजको सुखी करनेकी अिच्छा रखनेवाले, समाजकी विविध प्रवृत्तियोंमें पड़नेवाले, समाजके धर्मोंका अनुसरण करनेवाले लोग अन्तमें अज्ञानी, मायामें फँसे हुअे ही माने जाते हैं।

अिसलिअे यह स्वाभाविक है कि तीव्र श्रद्धालु आदमीके मनमें संसारके कर्मोंके प्रति अनास्था और अुनसे निकल भागनेकी वृत्ति अुठती रहे। अगर वह संसारके कामोंमें रस ले, तो वह तीव्र साधक नहीं हो सकता और संसारके कामोंमें रस लेना साधु पुरुषोंके लिअे अुनका पतन भी माना जाता है। नतीजा यह होता है कि संसारकी प्रवृत्तियाँ स्वार्थी और धूर्त लोगोंके ही हाथोंमें रहती हैं।

दरअसल आत्मतत्त्व (चैतन्यशक्ति अथवा ब्रह्म) और व्यक्ति-रूपमें हरअेक देहमें दिखाअी पड़नेवाले अुसके प्रत्यगात्मभावके बीचका भेद समझनेकी जरूरत है। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि चैतन्यशक्ति अथवा परमेश्वर अनादि-अमर है, अिसलिअे अुसमेंसे स्फुरित और अुसके आधारपर टिका हुआ व्यक्तित्व भी अनादि-अमर ही है। यह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यह है ही, अैसा मान लेनेके परिणामस्वरूप समाजधर्मके प्रति अनास्था और अपने व्यक्तित्वके ही विकास और मोक्षके बारेमें श्रद्धा पैदा होती है। समाजधर्म, सेवा ये सब अपने निजी मोक्षकी सिद्धि पुरते ही महत्त्वके होते हैं। अगर यह कल्पना ही हो, तो समाजधर्मके त्यागमें समाजका द्रोह ही होता है।

दूसरी ओरसे विचार करें, तो व्यक्ति मरकर दुनियामेंसे नेस्त नाबूद हो जायँ, फिर भी दुनियाके जीवनका क्रम और विकास रुकते नहीं हैं। पूर्वजों द्वारा साधे हुअे विकास या ह्रास, तप या पाप, अुनके द्वारा हासिल की हुअी सिद्धियाँ या पराजयों वगैराका लाभ पीछे आनेवाली पीढ़ियोंको मिलता है और अिस तरह भावी समाजके अुत्थान-पतनका अितिहास प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। पूर्वजोंका डोरा वंशजोंमें दिखाअी पड़ता है। व्यक्तिकी अुन्नतिसे समाजकी अुन्नति होती है और समाजकी अुन्नति व्यक्तिकी अुन्नतिमें मददगार होती है। समाजकी मददके बिना कोअी भी

व्यक्ति अपना सब तरहका विकास नहीं कर सकता। "जन्म-मृत्यु बिच क्षण नहिं ताता। जब न समाज होत सुखदाता॥" (कृष्णायन)। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोंकी मददके बिना ही समाजको अपना विकास करना पड़े; मगर कहना होगा कि अैसे व्यक्ति अुनपर रहनेवाला समाजका क़र्ज अदा नहीं करते।

मतलब यह है कि व्यक्तित्त्व चाहे अनादि-अमर हो, फिर भी समाज-धर्मको छोड़कर निजी श्रेय साधनेकी अुपासना दोषपूर्ण ही है। समाजके कल्याणके लिअे कोशिश करते रहना और अिसी अुद्देश्यसे अपनी शक्तियोंका अुपयोग और विकास करना हमारी साधना होनी चाहिये। अिस विचारके अभावका ही यह नतीजा है कि संसार अुसे कष्ट देनेवाले लोगोंके हाथमें ही रहा है और रहता है। जिस हद तक यह विचार, परमेश्वरमें निष्ठापूर्वक, छूटा है, अुसी हद तक संसारको भले लोगोंकी मदद मिली है और मिलती है। व्यक्तिको अपने मरनेके बादके अपने भविष्यकी चिंता करनेकी ज़रूरत नहीं है। अुसे समाजके ही श्रेयकी चिन्ता करनी चाहिये।

१०

धर्मों द्वारा खड़े किये हुअे विघ्न

अैहिक या पारलौकिक धर्मका हेतु मनुष्य-मनुष्यके बीच प्रेम, अेकता, सदाचार, न्याय, नीति, सुखमय समाजजीवन तथा अनेक सद्‌गुण और अच्छी आदतें निर्माण करना होना चाहिये। वह मनुष्यके विवेक और अुसकी स्वतंत्र रीतिसे विचार करनेकी शक्तिका विकास करनेवाला होना चाहिये। वह कल्पनाओं, वहमों आदिके घेरेसे मानवको बाहर निकालनेवाला तथा अज्ञानसे ज्ञानकी ओर, परावलबन — अशक्तिमेंसे स्वावलंबन — शक्तिकी ओर जानेकी जो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक गति है, अुसे मदद करनेवाला होना चाहिये। अिस स्वभावके साथ ही प्राणियोंकी प्रकृति दैन्यसे अैश्वर्यकी ओर, भोगके अभावसे बहुत अत्यधिक भोगकी ओर जानेकी भी है। यह प्रकृति अुसके

और समाजके विनाशका कारण होती है। फिर भी, अिसको पूरी तरह दबाया नहीं जा सकता, और ज़बरदस्ती दबानेसे न अिसे लाभ होता, न समाजको और अिससे किसीका अुत्कर्ष भी नहीं सधता। अिसलिअे धर्मका हेतु यह है कि वह दो अन्तिम सिरे छोड़कर समाजको बीचका रास्ता बार बार बतलाता रहे। चाहे जितनी पूर्णताको पहुँचा हुआ धर्म-स्थापक हो, फिर भी वह हमेशाके लिअे अैसा रास्ता नहीं निकाल सकता जिससे यह हेतु सिद्ध हो। समय-समय पर हरअेक स्थान व प्रजाको विशेषताओं तथा संयोगोंके अनुसार अुसमें बार बार घट-बढ़ तथा बड़े बड़े परिवर्तन भी करने पड़ते हैं। धर्मके मूल आधारस्तम्भ — सिद्धान्तोंमेंसे कुछ सनातन हो सकते हैं, मगर अुसके विगतवार विधिनिषेध सनातन नहीं हो सकते। यह बात नहीं समझनेसे, अिसे भूल जानेसे, जो धर्म मनुष्योंके मार्गदर्शक होने चाहिये, वे ही अुन्हें भ्रममें डालनेवाले, भटकानेवाले और विपत्तियोंमें ढकेलनेवाले हो गये हैं। जितने बड़े बड़े धर्म आज प्रचलित हैं, वे सब अिस आक्षेपके पात्र हैं। अीश्वरप्रणीत माने जानेवाले (रिवील्ड या अपौरुषेय) धर्म तो और भी ज्यादा प्रमाणमें।

हमारे देशके कअी राजकीय शकल ले लेनेवाले सवालों और झगड़ोंके मूलमें अुतरने पर पता चलेगा कि प्रचलित बड़े-बड़े धर्मोंके प्रति रहनेवाली गलत श्रद्धाओं तथा अुनके बड़प्पनके बारेमें झूठे अभिमानोंने अुन्हें पैदा किया है। ये अब धर्मके मार्ग नहीं रहे, बल्कि अैसे टूटे हुअे, मिटे हुअे अवशेष हैं, जिनमेंसे गुज़रनेकी कोशिश मानव समाजको भयकर जंगलमें ही ले जाती है। और मोहवश हम सब अपने-अपने रास्तेको सच्चा मानकर अूबड़-खाबड़ पगडण्डीको ही दुरुस्त करके अुसे पक्की बनानेकी कोशिश करना चाहते हैं।

स्मृतिकारोंने किसी समय धंधों और वर्णोंकी अुच्चता-नीचताकी कल्पना की, अुसके अनुसार विवाह, विरासत, छुआछूत, संकरता—शुद्धता, सजा-क्षमा वगैराके कायदे बनाये और जातिभेदकी नींव डाली। अुस समय शायद यही हो सकता होगा। मगर हमारे लिअे ये सनातन सिद्धान्त बन बैठे। ये शास्त्र अब प्रामाणिक नहीं रहे, अैसा कहनेकी हिम्मत कौन करे? अब भले अैसा लगे कि स्त्रियोंके अधिकार विशाल करने,

विरासतके नियम बदलने, विवाह-बन्धनोंमें फेरफार करने, छुआछूत हटाने और वर्णान्तर-धर्मान्तर विवाहोंको मान्य रखनेकी ज़रूरत आ पड़ी है। शासनकी मददसे हम चाहे यह सब करनेमें सफल भी हो जायँ, मगर सनातन हिन्दू धर्मी तो अिस सबको धर्मका लोप या कलियुगका प्रभाव ही मानेगा। सुधारक हिन्दू अितनी हद तक चाहे न जाय, मगर आदर्शके रूपमें तो वह अैसा कुछ मानता ही है: जैसे कि, किसी न किसी रूपमें वर्ण-व्यवस्थाका जीर्णोद्धार करना ज़रूरी है; पुनर्विवाह और तलाकके कानूनोंने रास्ता भले कर दिया हो, मगर यह प्रशस्त नहीं है; सिर्फ कानूनी विवाहसे विधि पूरी नहीं होती, अुसके साथ अैसा कुछ रखना ही चाहिये, जिससे पुराने शास्त्रों और विधियोंकी कुछ प्रतिष्ठा बनी रहे, वगैरा-वगैरा। वह गणपतिको न माने, फिर भी गणेशोत्सव मनाता है; नागपूजाको न माने, फिर भी नागपंचमीका दिन पालता है; वह अवतारों तथा देवोंकी विडम्बना करे, अुनके सिनेमा और नाटक खेले, फिर भी अुनके दिनों और महिमाको भूलने नहीं देता।

यही बात मुसल्मानों, सिक्खों वगैराके बारेमें भी है। कुरानने चार औरतें करनेकी अिजाज़त दी है। अब कौन अिन्सानी ताकत अुसको वापस लेनेकी हिम्मत कर सकती है? कुरानने गायको मारनेकी मनाही नहीं की। तब किसी भी अिन्सानी ताकतको अुसे रोकनेका अधिकार ही नहीं हो सकता। गुरु गोविन्दसिंहने पाँच 'क' रखनेकी आज्ञा दी है; अिसलिअे जो अुसे छोड़े, वह सिक्ख नहीं; जो छोडनेके लिअे कहता है, वह सिक्ख धर्मपर हमला करता है। और ये ही सब अिन्सानोंके झगड़ों-पक्षों वगैराकी अुत्पत्तिके कारण हैं।

अिन सबका कारण क्या? कारण है: वेद अपौरुषेय है, स्मृतिकार त्रिकालज्ञ थे; बाअिबल और कुरानमें औीश्वरकी वाणी है, गुरुवाक्य अविचारणीय है — वगैरा श्रद्धाअें।

विविध रूपोंमें मूर्तिपूजा और अुसके अनेक नये नये प्रकार निर्माण करनेका और अुसके पीछे फिर खूनकी नदियाँ बहानेका अनिष्ट भी प्रचलित महान् धर्मोंकी ही पिछले २५–३० बरसोंमें कलहका कारण हो पड़नेवाली विरासत है। हजारों बरसोंसे राजाओं तथा बड़े बड़े वीरों और सेनापतियोंके

अपने अपने खास झंडे तो रहते ही आये हैं। हम पढ़ते हैं कि महा-भारतके युद्धमें पाँचों पांडव, द्रुपद और अुसके लड़के, कौरव सेनापति वगैरा सब अपने अपने खास झंडे रखते थे। यूरोपमें भी अैसा था। किसी योद्धाको दूरसे पहचाना जा सके, यही अिसका अेक अुद्देश्य था और होना भी चाहिये। अिस झंडेको तोड़नेका मकसद यह था कि अुस योद्धाको कोअी पहचान न सके और अिस तरह वह अपनी फौज या दोस्तोंसे अलग पड़ जाय। अिसमें अिस झंडेका अपमान या पूजा वगैराकी भावना नहीं थी। अिस तरहके ध्वज-वंदनका हिन्दुस्तानमें कोअी रिवाज कभी रहा हो, अैसा पढ़नेमें नहीं आता। यह चीज पहले पहल अीसाअी यूरोपमें दाखिल हुअी। क्योंकि अीसाअी प्रजाओंने अपने धर्मका पूज्य चिन्ह 'क्रास' झंडेपर बनाया। पुराने अीसाअियोंमें मूर्तिपूजाका संस्कार बलवान होनेके कारण क्रासका निशान चाहे जहाँ और चाहे जिस कारणसे दिखाअी पड़े, वह वंदनीय बन जाता था। अुसमें देवत्वकी भावनाका आरोप हो जाता था। अिस तरह झंडा पूज्य बना, और जिस योद्धाका वह झंडा हो, अुसके दुश्मनोंके लिअे अुस योद्धाका अपमान करने या अुसे छेड़नेका सरल साधन बना।

मुसलमानों और अीसाअियोंके बीच होनेवाले धर्मयुद्धों (क्रुसेडों)में झंडा आसानीसे खून-खराबीका कारण बना। अिसमें अपने राजाकी, राज्यकी, धर्मकी, अिस तरह कअीकी आबरूका समावेश हुआ।

मुसलमानोंका मूर्तिपूजा-विरोधी धर्म भी अिस झंडा-पूजनकी छूतसे नहीं बचा। राज्य हो, वहाँ झंडा तो रहेगा ही। दूरसे पहचाननेके लिअे यही मौजूँ चीज़ मानी जा सकती है। मगर मुसलमान बादशाहोंका झंडा भी मुस्लिम धर्मके साथ जुड़ गया। मूल पैगम्बर या पहले खलीफ़ाका झंडा नीला और चाँद-तारेके निशानवाला रहा होगा, अिसलिअे वही अीसाअियोंके क्रॉसकी तरह अिस्लामका बुत बना। फिर भी अमुक दिन और अमुक तरीकेसे झंडा चढ़ाना, अुतारना, अुसे सलामी देना वगैरा कर्मकांड मुस्लिम राज्योंमें होते होंगे, अैसा नहीं लगता।

हिन्दुस्तानमें ब्रिटिश राजके आनेसे पहले झंडेका किसी जीते जानेवाले या जीते हुअे स्थानके साथ या प्रत्यक्ष लड़ाअीसे जहाँ सम्बन्ध न

हो, वहां सिर्फ अुसीकी अिज्ज़त या टेक रखने या अुसे तोड़नेके लिअे कहीं खून-खराबी हुअी हो, अैसा कहीं पढ़नेमें नहीं आता ।

ब्रिटिश राज्यने हिन्दुस्तानमें झंडेके रूपमें मूर्तिपूजाका अेक नया प्रकार दाखिल किया । अिस मूर्तिपूजा-परायण देशमें हिन्दू राजा बहुतसे थे, मुसल्मान बादशाह भी बहुतसे थे । मगर किसीका अेक झंडा नहीं था । कोअी झंडा सिर्फ हिन्दू धर्मका ही चिह्न माना जा सके, अैसा नहीं था । जिस तरह दूसरे राजाओंके अपने झंडे थे, अुसी तरह शिवाजीने भी अेक पसन्द किया था । वह भगवे रंगका था, जिसपर कोअी दूसरा निशान नहीं बना था । मगर भगवे झंडेकी या किसी मन्दिरकी ध्वजाकी भी वन्दना करनेकी किसीने कल्पना तक नहीं की थी ।

किसी मूर्तिपूजापरायण कांग्रेसके मेम्बरको झंडा पूजनकी छूत लगी । अुसने यह छूत गांधीजीको लगाअी और अुसकी झड़पमें वे आ गये । फिर यह सारी कांग्रेसमें फैली, और अुसके विरोधियोंको भी दूसरे रूपमें लगी। चरखेके निशानवाला तिरंगा झंडा पैदा हुआ; अुसके विरोधमें यूनियन जैक तो था ही, लीगका नीला — चाँद-तारेवाला झंडा, हिन्दू महासभाका भगवा झंडा और दूसरे छोटे-बड़े दलोंके कअी किस्मके झंडे बने । कोअी देश जीतने नहीं थे, जीते हुअे नहीं थे, कोअी युद्ध नहीं चल रहा था या कोअी फौज नहीं थी, जिसके आगे अिसे रखा जाता; फिर भी अिसने पक्षका — टेकका — झगड़ा खड़ा किया । नागपुरके मूर्ख हाकिमोंने अुसके लिअे निमित्त देकर अुसे अहमियत दी । झंडा पूजनीय मूर्ति बना । अुसपर स्त्री-पुरुषोंके खून बहे ! तिरंगा आगे आवे, तो लीगका झंडा क्यों पीछे रहे ? और हिन्दू महासभा अिसे कैसे चुपचाप मान ले ? अिस तरह लाल (या केशरी), सफेद, नीला, भगवा रंग और चरखा या चक्र, या चाँद-तारेका निशान मनुष्योंके लिअे अेक-दूसरेके सिर फोड़नेके निमित्त बने । केशरी यानी बलिदान, सफेद यानी शान्ति, नीला यानी अमुक, वगैरा तो मनुष्यके दिये हुअे कल्पित अर्थ हैं । अिन रंगोंने अुन भावनाओंको सुरक्षित रखा हो, अैसा कभी नहीं देखा गया । झंडेका चरखा सूत नहीं निकाल सकता, न अुसका धर्मचक्र धर्म कायम कर सकता; मगर वे सब झूठी मोह-ममता और खूँरेजीकी भावनाको बढ़ावा देते हैं और यह तो

प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि अिसीमेंसे हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके दो राजकीय प्रदेश खड़े हुअे। अगर झंडा सिर्फ पहचानका ही चिह्न होता और अुसका सिर्फ अितना ही अुपयोग समझनेका संस्कार होता, तो बहुतसी बिला वजह होनेवाली खूँरेज़ी रुक सकी होती।

अेक सोचने लायक बात यह है कि 'रिलिजियन' या 'मज़हब' के अर्थमें धर्म शब्दका अुपयोग अभी अभी ही किया जाने लगा है। संस्कृत भाषामें मत, पंथ, सम्प्रदाय, दर्शन, शास्त्रवाद वगैरा शब्द हैं, अिन जुदे जुदे पन्थोंको मान्य हों, अैसे धर्म अथवा आचार भी हैं, और अिस तरह स्मृति-धर्म, रूढ़ि-धर्म, पुराणोक्त-धर्म वगैरा भी हैं, मगर वैदिक धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म जैसा भाषा-प्रयोग हालमें ही पैदा हुआ है। अपने अपने सम्प्रदाय या दर्शन द्वारा मान्य किये हुअे शास्त्रोंका समन्वय और अेकवाक्यता करनेकी हरअेक मतवालेने कोशिश भी की है। मगर अलग अलग मतों या पन्थोंका या अनेक शास्त्रोंका समन्वय या अेकवाक्यता करनेकी कोशिश नहीं हुअी। अिसे सम्भव नहीं माना गया कि वेद मत, जैन मत, बौद्ध मतकी अेकवाक्यता की जा सकती है। अैसा कोअी नहीं कहता कि श्वेताम्बर पन्थ और दिगम्बर पन्थ, शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय, सांख्य-दर्शन और वेदांतदर्शन वगैरा वगैरामें अेकवाक्यता है। ज्यादासे ज्यादा अिन सबमें विचारकी क्रमिक प्रगति या समानता दिखानेकी कोशिश होती है। अलग अलग मतों, दर्शनों वगैराको माननेवालोंके प्रति सहिष्णुता रखते हुअे भी हमारे यहां अुनकी आलोचना करनेमें कभी संकोच नहीं किया गया, न यही माना गया कि अुनकी आलोचना की ही नहीं जा सकती। अिस बातको स्वीकार किया गया है कि 'शास्त्रार्थ', 'खण्डन-मण्डन' आदि करनेका अधिकार सबको है।

सच पूछा जाय, तो जैसे वैदिक मत, जैन मत, बौद्ध मत हैं और अुनमेंसे हरअेकमें अनेक सम्प्रदाय, दर्शन, पंथ कहे जा सकते हैं, वैसे ही अिस्लाम और अीसाअी मत भी हैं। हरअेक मत अुसके माननेवालेको सोलह आने सच मालूम होता हो, मगर दूसरे मतवालेको वह कुछ सच्चा और कुछ झूठा या बिलकुल झूठ भी लग सकता है। झूठ लगते हुअे भी वह भले अुसके प्रति सहिष्णुता रखे, विनय-आदर बतावे, विनय-आदरसे

अुसे जाननेकी कोशिश करे, मगर यह मंजूर नहीं किया जा सकता कि अुसके विचारों और आचारोंकी सत्यासत्यताकी आलोचना नहीं की जा सकती, या अैसा करनेका किसीको अधिकार नहीं है। अगर अिसे मंजूर कर लिया जाय, तो सत्यकी शोध और असत्यके त्यागका रास्ता ही बन्द हो जाय। मगर मतोंके लिअे धर्म या मजहब शब्दका प्रयोग करके, अुसकी अुत्पत्तिके बारेमें अुस मतके अनुयायीकी श्रद्धा — अीश्वर-प्रणीतता यानी सत्यता — दूसरे मतवालोंको भी मान्य रखनी चाहिये, अैसा सत्य-शोधनका विरोधी आग्रह पैदा हो गया है।

विचार करने पर मालूम होगा कि गलत शब्दों द्वारा बहुतसे अनर्थ पैदा होते हैं। अूपर कहे मुताबिक 'मज़हब' या 'रिलिजियन'का सच्चा अर्थ 'मत' है। मगर अिसके लिअे 'धर्म' शब्दकी योजना हुअी। फिर सहिष्णुताके बदले 'समभाव'की योजना हुअी। अिस तरह परमत-सहिष्णुताके अर्थमें सर्वधर्म-समभाव शब्द बना। और समभावका मतलब सहानुभूति या आदर नहीं, बल्कि 'अेकभाव' (= सब धर्म अेक ही हैं) और अुससे आगे बढ़कर वह 'ममभाव' (= सब मेरे हैं) तक पहुँचा।

अेक तरफसे अैसा लग सकता है कि यह सब हिन्दुओंकी अेक युक्ति ही है, और अिसका अुद्देश्य बढ़ती हुअी धर्मान्तरकी प्रवृत्तिसे आत्मरक्षा करना है। अगर यह मान लिया जाय कि हरअेक धर्म सच्चा है, मोक्षदायी है, तो धर्मान्तरकी जरूरत ही न रहे। जिस धर्ममें जो पैदा हुआ हो, अुसे सच्चे दिलसे पाले अितना बस है। **स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**। यहाँ धर्म शब्दका अर्थ मत — सम्प्रदाय — नहीं है, यह कहनेकी ज़रूरत नहीं होनी चाहिये। अिसका यह अभिप्राय नहीं है कि जैनसे वैष्णव या वैष्णवसे जैन मत स्वीकार नहीं किया जा सकता या अद्वैतवादी वातावरणमें पला हुआ व्यक्ति द्वैतवादी नहीं बन सकता। सामाजिक धर्म — जिन्हें मामूली तौरपर वर्णाश्रम धर्मके नामसे पहचाना जाता है — अपने अपने स्वभाव, शिक्षण, संस्कार वगैरासे जम गये हों, तो अुनका त्याग न करनेका ही अिसमें अुपदेश है। मत बदला जा सकता है, तभी तो अनेक सम्प्रदाय और गुरु-गादियाँ चलती हैं और अुनका प्रचार होता है। जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि मत हैं

और अुनका स्वीकार-त्याग किया जा सकता है, अुसी तरह मुसलमान-अीसाअी मतोंका भी स्वीकार-त्याग करने और अुनका प्रचार या खण्डन-मण्डन करनेमें कोअी हर्ज़ नहीं होना चाहिये। अिसमेंसे राजकीय समस्या खड़ी होनेकी ज़रूरत नहीं है।

मगर हुआ अैसा ही है, और मत बदलनेकी प्रवृत्ति, जिसे धर्मान्तर प्रवृत्तिका नाम दिया गया है, अेक बड़ी समस्या बन बैठी है। अिस समस्याका सच्चा स्वरूप समझनेमें धर्म शब्दके ग़लत अुपयोगके कारण हम खुद ग़लत रास्ते चल पड़े हैं।

हक़ीक़त यह है कि अिस्लाम तथा अीसाअी धर्म सिर्फ मतान्तर नहीं कराते, बल्कि समाजान्तर भी कराते हैं। कोअी जैन वैष्णव बनकर गलेमें कंठी पहने तथा कृष्ण-मन्दिरमें जाय और गीता-भागवत पढ़े, या वैष्णव जैन बनकर कठी तोड़े, अपासरे (जैन साधुओंके रहनेकी जगह) में जाय और जैन-पुराण सुने, तब भी अुसके सामाजिक और घरेलू धर्म-कर्म तथा स्थान, वंश-विरासत-विवाह वगैराके अधिकार आदिमें फेरफार नहीं होता। अुसका नाम-ठाम नहीं बदलता। मगर मुसलमान या अीसाअी होते ही यह सब बदल जाता है। तब अुसकी पत्नी अुसकी पत्नी नहीं रह जाती, पति पति नहीं रह जाता। अुसके सम्मिलित कुटुम्बके, विरासतके तथा मिल्कियतके अधिकारोंमें फर्क़ पड़ जाता है। अिस तरह मतान्तरके साथ समाजान्तर होनेसे प्रजामें समाजभेद निर्माण होता है — हुआ है। और अिस तरह समाजकी अेकता भंग होनेका नतीजा दो प्रजाओं — दो नेशन्स — का वाद और अुसके फल हैं। जो झगड़ा है वह अल्ला, गॉड या अीश्वरका नहीं, अेक देव या बहुदेवोंका भी नहीं, बल्कि कुरान, बाअिबल तथा स्मृतियों द्वारा निरूपित अलग अलग किस्मके सामाजिक अधिकारों, कर्तव्यों और सामाजिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले विधि-निषेधोंका है। अगर सामाजिक कायदे अेक प्रदेशमें रहनेवाली सारी प्रजाके लिअे अेकसे ही रखनेका लाज़मी नियम हो, और साथ ही परमत-सहिष्णुता भी हो, तो अनेक तरहके मत-पंथ होनेसे भी मुश्किलें पैदा न हों।

अिस तरह धर्मान्तर = मतान्तर + समाजान्तर; और विविध धर्म (= मज़हब) = विविध आध्यात्मिक मत + विविध सामाजिक कायदे।

अिनमेंसे अगर योग्य मर्यादामें रहकर सिर्फ विविध आध्यात्मिक मतोंका ही प्रचार हो और चाहे जिस तादादमें अेक मतके मनुष्य दूसरे मतमें शामिल हों, तो अैसा नहीं कहा जा सकता कि अुससे अड़चनें पैदा होंगी ही। सर्वधर्म-समभाव नहीं बल्कि परमत-सहिष्णुता ही हो, तब भी सब सुखसे रह सकते हैं। मगर मतान्तरके साथ अुस मतवालेको किसी खास समाजके कायदोंके अनुसार चलने या अुससे वे मान्य रखानेकी छूट नहीं होनी चाहिये। अिस मामलेमें कायदोंका 'अल्पमतवालों'का — यानी विशिष्ट धर्म या मतवालोंका — अधिकार मान्य रखनेसे भिन्न भिन्न, अेक दूसरेसे अेकरूप न हो सकनेवाले समाजोंका अस्तित्व टाला नहीं जा सकेगा, और अिसकी समस्याअें खड़ी होती ही रहेंगी। यह बतलानेसे अिस समस्याका अन्त नहीं होगा कि अीश्वर, सद्गुण और पवित्र जीवनके सम्बन्धमें सब धर्म अेकमत हैं, क्योंकि ये झगड़े अीश्वर, सद्गुण या पवित्र जीवन सम्बन्धी मतोंके बारेमें नहीं, बल्कि मेरे और दूसरेके समाजके अलग होनेसे पैदा होनेवाली राजकाज, आर्थिक वगैरा स्पर्धाओंके हैं।

जिस हद तक अैसे समाजान्तरका कारण आजके धर्म हैं, अुसी हद तक वे प्रजाकी समस्याओंका अन्त करनेमें विघ्नरूप हैं।

११

भाषाके प्रश्न — पूर्वार्ध

यह हमें अच्छी तरहसे याद रखना चाहिये कि पाकिस्तान प्रकरण हिन्दुओंकी समाज-रचना और अुनके स्वभावका नतीजा है। हमारा चौका दूसरोंसे बिलकुल जुदा होना चाहिये, अुसमें किसी दूसरेको शामिल नहीं करना चाहिये, हमारी विशिष्टता अैसी होनी चाहिये कि अंधा भी अुसे देख सके, यह हिन्दू जनताका — या जनताका नहीं, बल्कि हिन्दू पंडितों, नेताओं तथा अूँची कही जानेवाली जातियोंका स्वभाव और आग्रह बन गया है।

यह बात नहीं है कि अैसा समाज कभी सुधरता ही नहीं या प्रगति ही नहीं करता। मगर वह अिस सुधार या प्रगतिको बुद्धिपूर्वक नहीं अपनाता।

ज़बरदस्तीसे कोअी सुधार अुसमें दाखिल किया जाय, तो काफी समय बीतनेपर वह अुसके आधीन हो जाता है। और सिर्फ आधीन ही नहीं होता, बल्कि वह मानो शुरूसे ही अुसके सामाजिक जीवनका अंग था, अैसा समझकर अुसके प्रति ममता भी रखने लगता है। सुधारोंके सम्बन्धमें हमारी वृत्ति रेलगाड़ीके मुसाफिरों जैसी है। डब्बेमें जगह होते हुअे भी अगर नया मुसाफिर बैठनेके लिअे आवे, तो पहले अुसे रोकनेकी कोशिश करना। मगर वह जबरदस्ती घुस जाय, तो पहले थोड़ी देर तक क्रोध दिखाना और बादमें अुसे दोस्त बना लेना। फिर कोअी तीसरा मुसाफिर आवे, तो नये और पुराने दोनोंने मिलकर वैसा ही व्यवहार अिस तीसरेके साथ करना।

आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, सांस्कारिक, वगैरा जीवनके किसी भी पहलूकी हम जाँच करेंगे, तो हमारे अिस स्वभावके हमें दर्शन होंगे। अिसमेंसे यहाँ हम भाषाके प्रश्न पर विचार करेंगे।

अिसमें शक नहीं कि हमारी मौजूदा प्रान्तीय भाषाअें बहुत ज्यादा अंशोंमें संस्कृत भाषाकी खाद चूसकर बढ़ी हुअी विविध लतायें हैं। मगर जब हम 'बहुत ज्यादा अंशों'का मतलब सौ फी सदीके बराबर समझने लगते हैं, तब दो-तीन प्रकारकी भूलें होती हैं। पहली यह कि संस्कृत खादका बहुत बड़ा भाग होने पर भी अुसमें दूसरी भाषाओंका खाद भी है ही, और हम यह भूल जाते हैं कि संस्कृत अपने साहित्यिक स्वरूपमें नहीं, बल्कि प्राकृत अथवा विकृत (यानी बिगड़े हुअे) रूपमें भी है। अिस कारणसे अेक ही संस्कृत शब्द अलग अलग भाषाओंमें अलग अलग अर्थोंमें काममें आता है, और अेक ही अर्थमें अलग अलग भाषाअें अलग अलग संस्कृत शब्दोंको भी काममें लेती हैं, अिसे हम भूल जाते हैं। दूसरी भूल यह होती है — हम अैसा मानने लगे हैं कि मुसलमानों और अंग्रेजोंके आनेसे पहले संस्कृत परिवारसे स्वतंत्र भाषाअें बोलनेवाली मानो कोअी प्रजाअें अिस देशमें थीं ही नहीं, अथवा अगर थीं भी, तो अुनकी बोलियोंका हमारी मौजूदा भाषाओंमें कोअी हिस्सा ही नहीं है। सच बात तो यह है कि हमारी प्रचलित भाषाअें संस्कृत (तत्सम या तद्भव) + स्थानीय और पुरानी या नअी आयी हुअी प्रजाओंकी भाषाओंसे अच्छी तरह

मिश्रित हैं, सिर्फ मुसलमानी (फ़ारसी–अरबी) या अंग्रेजी भाषाओंसे ही नहीं। तीसरे, हम यह बात भूल जाते हैं कि खुद साहित्यिक संस्कृतमें भी दूसरी भाषाओंके शब्द आ गये हैं। अुसमें द्राविड़ी भाषाओंके कअी शब्द तत्सम या तद्भव (यानी संस्कृत-कृत) रूपमें हैं तथा ग्रीक वगैरा भाषाओंके भी कअी शब्द हैं। अपनी दृष्टिसे हम अिन्हें संस्कृत बनाये हुअे मानते हैं, मगर अिन भाषाओंका बोलनेवालोंकी दृष्टिसे वे विकृत या तद्भव ही माने जायेंगे। अिस तरह संस्कृत या कोअी भी प्रचलित भाषा अैसी नहीं है, जिसमें दूसरी भाषाओंके शब्दोंका मिश्रण न हो। मगर अुन पिछले मिश्रणोंको हमने पचा लिया है और अुनके प्रति हमारे दिलोंमें मोह भी पैदा हो गया है। हम अैसा भी मानने लगे हैं कि अिससे हमारी भाषा बिगड़ी नहीं, बल्कि बढ़ी है, समृद्ध हुअी है, अुसे प्रान्तीय विशिष्टताअें प्राप्त हुअी हैं, शुद्ध संस्कृतकी अपेक्षा अैसे स्थानीय शब्द ज्यादा पसन्द करने लायक हैं। सम्भव है कि जिन जिन ज़मानोंमें अैसी मिलावट हुअी, अुनमें अिसका स्वागत नहीं हुआ होगा, मगर अनिवार्य हो पड़नेके बाद अिनके प्रति ममता पैदा हो गअी होगी। अैसी कितनी भाषाओंकी नदियाँ हमारी मौजूदा भाषाओंमें मिली हुअी होंगी, अिसे गिनाना भी मुश्किल है।

मुसलमानों और अंग्रेजोंके आनेके बाद अुनकी भाषाओंके शब्दों, प्रयोगों, परिभाषाओं वगैराका हमारी भाषाओंमें दाखिल होना कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है। अुन्होंने हमें जीता, हम पर राज किया, हमें शर्मिन्दा किया, अिसका भले ही हमें दुःख हो, मगर अिससे भाषाओंकी या संस्कृतियोंकी मिलावटके बारेमें क्रोध करने जैसी कोअी बात नहीं है। अेक प्रजाका दूसरी प्रजासे सम्बन्ध बँधनेके अनेक निमित्त होते हैं। जिस तरह पड़ोस, व्यापार, प्रवास, साहित्य-प्रेम वगैराके द्वारा सम्बन्ध बँधते हैं, अुसी तरह हिंसापरायण जगतमें आक्रमण और हारजीतके द्वारा भी सम्बन्ध बँधते हैं। सबके अच्छे-बुरे नतीजे होते हैं। सबके अेक दूसरेकी भाषा और संस्कृतिपर अच्छे-बुरे असर होते हैं। जिसकी जो विशेषता हो, अुसे व्यक्त करनेवाले खास शब्द भी अुसकी भाषामें होते ही हैं। हो सकता है कि अुसे बराबर प्रकट करनेवाले कोअी शब्द दूसरी भाषामें

न हों। अैसे वक़्त अपनी भाषाका कोअी नया शब्द बनानेकी बात सामान्य जनताको नहीं सूझती; क्योंकि अैसा करना स्वाभाविक नहीं है। अगर कभी अुसके समान अर्थवाला दूसरा शब्द मिल जाय, फिर भी नया शब्द काममें लानेमें ज्यादा सुविधा हो सकती है। अिसके परिणामस्वरूप या तो दोनों ही शब्द चल जायँ, या फिर नये शब्दके सामने लोग अपने शब्दको भूल भी जायँ। दो असमान धारायें जब मिलती हैं, तब बड़ी या जोरदार धारा छोटी या कमज़ोर धाराको रोक देती है; अैसा जिस तरह पानी और हवाके बारेमें होता है, अुसी तरह भाषाओंके बारेमें भी समझना चाहिये।

अेक दूसरेको अपने मनकी बात समझानेके लिअे ही भाषाका प्रयोग होता है। अिसमें बोलनेवालेकी अपेक्षा सुननेवालेकी सुविधा ज्यादा महत्त्वकी चीज़ है। "आँखके खास डॉक्टर"में संस्कृत, अरबी और अंग्रेजी भाषाओंके तद्भव हैं। फिर भी "अक्षि-चिकित्सा विशेषज्ञ" या अैसा कुछ लिखा हुआ पटिया कोअी लगावे, तो मामूली आदमी अुसे आसानीसे समझ नहीं सकेगा। धंधा करनेकी अिच्छावाला कोअी भी व्यक्ति अैसा नहीं करेगा। डॉक्टरके बदले वह वैद्य या हकीम भी नहीं लिखेगा। क्योंकि अिससे अुसकी विशेष चिकित्सा-पद्धतिके सम्बन्धमें भ्रम हो सकता है। भाषा-शुद्धिकी दृष्टिसे यह बहुत बड़ा संकट है, मगर भाषा-शुद्धि कोअी स्वतंत्र रीतिसे की जा सकनेवाली चीज़ नहीं है। भाषा जब खुद ही जीवनका साध्य नहीं, बल्कि साधन है, तब अुसकी शुद्धिके बारेमें तो क्या कहा जाय?

परन्तु मुसलमान और अंग्रेज चूँकि हमपर हमला करके, हमें हराकर आये हैं, अिसलिअे अिससे पैदा हुअे हीनताग्रहसे हमारे मनमें अिनकी भाषा, संस्कृति, लिपि वगैरा सबके प्रति अरुचि पैदा हो गअी है। यह अरुचि यहाँ तक बढ़ी कि 'यावनी' या 'म्लेच्छ' भाषाका शब्द कानोंमें पड़ जाय, तो अुठकर नहानेवाले भी हमारे यहाँ हो गये हैं। अिससे अिन भाषाओंको हमारे जीवनमें दाखिल होनेसे हम रोक तो नहीं सके, मगर यह अरुचिकी भावना अभी हमसे छूटी नहीं है। अिनकी भाषाके जिन शब्दोंको हमारी जनता कितनी ही पीढ़ियोंसे काममें लाती रही है,

अुन्हें बदलनेकी हम कोशिश कर रहे हैं। और यह कोशिश, जहाँ दो समान और सामान्य शब्द प्रचलित हों, अुन्हीं तक सीमित नहीं है, बल्कि अिन प्रजाओं द्वारा दाखिल की हुअी विशिष्ट विद्याओं और प्रणालिकाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले खास शब्दों तक भी पहुँचती है। माना कि 'कम्पनी' के लिअे 'भागीदारी' शब्द अच्छी तरह चल सकता था, और भागीदारी कोअी अंग्रेजों द्वारा दाखिल की हुअी संस्था नहीं थी, यह भी सच है। मगर पेढ़ी (दुकान)के नामके साथ 'भागीदारी' शब्द जोड़नेकी चाल हमारे देशमें पहले नहीं थी। यह चाल हमने अंग्रेजोंके पाससे ली, अिसलिअे ज़्यादा बारीकीमें न जाकर अंग्रेजों द्वारा 'कंपनी सरकार' शब्दके रास्ते ही परिचित कराया हुआ 'कंपनी' शब्द हमने भी ले लिया। और सौ-डेढ़सौ बरसों तक अिसका अुपयोग करते रहे। अब अगर अिसके बदले 'भागीदारी' शब्द भी नहीं, बल्कि 'प्रमंडल' शब्द दाखिल करनेकी कोशिश करें, तो अिसे झूठे अभिमानके सिवा और क्या कहा जायगा? अिसी तरह Transfer-entry के लिअे 'हवाला' शब्द रूढ़ है; मगर यह तो मुसलमानी भाषाका है। यह हमारे मिथ्याभिमानका पोषण नहीं कर सकता। अिसलिअे 'स्थानांतरण-प्रविष्टि' शब्द सुझाया गया है। अिसी विचारधाराके अनुसार agreement और 'करार'के बदले 'संविदा' और agreement-deed — 'करारनामा'के बदले 'संविदा-लेख' अथवा 'संलेख' जैसे शब्द सुझाये गये हैं। अिस तरह साहित्य और भाषाके क्षेत्रमें जीवनके अेक अेक विषयमें प्रयुक्त अरबी-फ़ारसी-अंग्रेजीके रूढ़ शब्द निकालकर संस्कृतका जीर्णोद्धार या नया अवतार करनेकी 'भद्रंभद्र' वृत्ति पैदा हो गअी है।

जैसा कि पहले ही लेखमें कहा गया है, हमारे विचार आज दो परस्पर-विरोधी दिशाओंमें काम कर रहे हैं। अेक तरफ तो हमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, अीसाअी वगैराको अेक प्रजाके रूपमें संगठित करना है, जातपाँत तथा सम्प्रदायोंके भेद और आपसी मनमुटाव तोड़ने हैं; और दूसरी तरफ हमें अपनी प्राचीनताका पुनरुद्धार भी करना है। अेक तरफ हम सारी दुनियाकी अेकता, सारे अेशियाका संगठन, अखण्ड हिन्दुस्तान वगैराकी साधनाकी अिच्छा रखते हैं, और दूसरी तरफ परदेशी

माने हुअे संस्कार, भाषा वगैराकी छांहसे भी परहेज करते हैं। और सो भी सैकड़ों बरस साथ रह लेनेके बाद!

यह दृष्टि दूसरी चाहे जिसकी हो, पर क्रान्तिकी नहीं है, अेकताकी नहीं है, सुलह-शान्ति-संपकी नहीं है, अिसलिअे अहिंसाकी नहीं है, विद्या तथा प्रगतिकी नहीं है। मेरी समझसे यह दृष्टि संकुचित मिथ्याभिमानकी है।

शिक्षाकी दृष्टिसे अिस पर चौथे खंडमें ज्यादा विचार किया गया है।

१३-९-'४७

१२

लिपिके प्रश्न — पूर्वार्ध

भाषासे भी लिपि ज्यादा बाह्य वस्तु है। भाषाको लेखनमें प्रकट करनेका यह साधन है। अिसका लिखनेवाले या बोलनेवालेकी जाति, धर्म, प्रान्त, राष्ट्र वगैराके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं। टेव—महावरेके साथ ज़रूर सम्बन्ध है। यह टेव आनुवंशिक नहीं है। अिसके बारेमें अैसा अभिमान या ममत्व होनेकी ज़रूरत नहीं है कि अिसमें फेरफार करनेसे हमारी जाति छोटी हो जायगी। अिसलिअे भाषा और लिपि दोनोंमेंसे अेकको छोड़नेका प्रसंग आवे, तो लिपिका त्याग कर देना चाहिये।

हिन्दुस्तानमें आज अनेक लिपियाँ प्रचलित हैं। वर्णमालाके खयालसे अिन लिपियोंके तीन वर्ग किये जा सकते हैं: संस्कृत वर्णमालावाली, फ़ारसी वर्णमालावाली, और अंग्रेजी वर्णमालावाली। (अंग्रेजी अिसलिअे कहता हूँ कि रोमन लिपिके अंग्रेजी अनुक्रम और अुच्चार-पद्धति ही हिन्दुस्तानमें प्रचलित हैं, रोमन या यूरोपकी दूसरी भाषाओंके नहीं।)

अंग्रेजी वर्णमालाकी लिपि अिस तरह संलग्न है कि अुसे अेक भी कहा जा सकता है और चार भी। लिखने और छपनेकी पद्धतियोंमें थोड़ा फ़र्क होनेके कारण, और कैपिटल और छोटे अक्षरोंमें थोड़ा भेद होनेसे यह चार प्रकारकी बनती है और फिर भी ये भेद मराठी (बालबोध)

और हिन्दी देवनागरीके बीच तथा गुजराती, मोड़ी, कैथी जैसी पत्र-लेखनकी और नागरी जैसी ग्रंथ लेखनकी लिपियोंके बीचके भेदोंसे ज़्यादा तीव्र न होनेसे कहा जा सकता है कि वह अेक ही लिपि है।

फ़ारसी वर्णमालावाली लिपिके दो प्रकार हैं। अरबी मरोड़की (जिसका प्रयोग कुरान और छापेमें होता है) और फ़ारसी मरोड़की (जिसका प्रयोग हस्तलेखन और शिलाछापमें होता है)। अिन दोनोंमें अितना ही फ़र्क है, जितना तेलुगु और कन्नड़ लिपियोंके बीच है। मैंने सुना है कि हिन्दुस्तानसे बाहरके अिस्लामी देशोंमें अब अरबी मरोड़ ही काममें लाया जाता है। हिन्दुस्तानमें दोनों चलते हैं, मगर मुसलमान प्रजा फ़ारसी मरोड़को ज़्यादा पसन्द करती है। छापनेकी दृष्टिसे अिसमें बेहद असुविधा भरी है। जो पढ़ सकते हैं, अुन्हें कुरान वग़ैराके कारण पहली लिपिका काफी महावरा होता है। फिर भी फ़ारसी मरोड़में लिखनेकी आदत पड़ जानेके कारण अरबी मरोड़के अक्षरोंके प्रति अितनी अरुचि पैदा हो गअी है कि अरबी मरोड़में छापनेवाले प्रकाशकोंको आखिर हार खानी पड़ती है। आज पढ़-लिख सकनेवाले मनुष्योंकी तादाद बहुत कम होते हुअे भी यह हालत है। शिक्षणके विस्तारके साथ अगर यही टेव जारी रही, तो अिसमें फेरफार करना बहुत मुश्किल हो जायगा।

संस्कृत वर्णमालाकी मुख्य लिपियाँ — जिनमें पुस्तकें वग़ैरा छापी जा सकती हैं — हिन्दुस्तानके लिअे अितनी गिनाअी जा सकती हैं: देवनागरी (दो तरहकी — हिन्दी तथा मराठी), गुजराती, बंगाली, पंजाबी (गुरुमुखी), अुड़िया, कानड़ी, तेलुगु, मलयालम, और तामिल। यह कहनेमें कोअी हर्ज़ नहीं कि अिनमेंसे आधुनिक तामिलके सिवा दूसरी सभी लिपियोंकी वर्णमाला अेक ही है। अिसके बाद पत्र वग़ैराके लेखनमें कअी अुपलिपियोंका भी प्रचार है: जैसे कि, कैथी, मोड़ी वग़ैरा।

अिन सारी लिपियोंको अूपर अूपरसे देखें, तो अैसी निराली जान पड़ती हैं, मानो अुनमेंसे बहुतसी अेक दूसरीसे बिलकुल स्वतंत्र रूपसे बनी हों। मगर प्राचीन लिपि-संशोधकोंने यह अच्छी तरह दिखला दिया है कि ये सारी लिपियाँ अेक ही मूल लिपिमें समय समय पर पड़े हुअे और स्थिर बने हुअे अलग अलग मरोड़ोंका परिणाम हैं। अिस मूल लिपिको

ब्राह्मी लिपि कहा गया है । अिस लिपिका कालांतरमें देवनगर (काशी)में जो मरोड़ स्थिर हुआ, वही आधुनिक देवनागरी है । काशीके प्राचीन सांस्कृतिक महत्त्वके कारण अिस लिपिका सबसे ज़्यादा प्रचार तथा आदर हुआ । यह आसानीसे देखा जा सकता है कि गुजराती, कैथी जैसी लिपियाँ देवनागरीके ही रूपान्तर हैं । बंगाली, अुड़िया या द्राविड़ी लिपियोंमें यह बात अितनी आसानीसे नज़र नहीं आती । ये ब्राह्मी लिपिके सीधे रूपान्तर भी हो सकती हैं ।

अलग अलग प्रान्तोंमें पहले पहल लेखन-कला ले जानेवाले पंडितोंके अपने हस्ताक्षर, लिखनेके अधिष्ठान (कागज, भोजपत्र आदि), लिखनेके साधन (स्याही, कलम, लोहेकी लेखनी आदि) वगैरा कारणोंसे अलग अलग जगहोंकी लिपिमें जाने-अनजाने नये मरोड़ पैदा हुअे जान पड़ते हैं । अैसा भी लगता है कि कुछ अक्षरोंकी पहले ज़रूरत न जान पड़ी हो और अुन्हें बादमें दाखिल किया गया हो । यह सब हरअेक प्रान्तमें अेक साथ ही या अेक ही तरहसे नहीं हुआ । फिर भी सबके पीछे अेक मूल बुनियादी योजना साफ दिखाअी पड़ती है । स्वर-योजना, स्वरोंको व्यंजनोंके साथ मिलानेकी योजना, अक्षरों या चिन्होंके अूपर, नीचे, दाहिने या बायें तरफ़ लिखनेकी रीत सब जगह अेकसी मालूम होती है । छापनेकी कलाके आगमनके बाद कुछ प्रान्तोंमें अुसमें फर्क़ पड़ गया है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि ये लिपियाँ सिर्फ रूढ़िवश या अनजाने ही बदलती गअी हैं । अिनमें समय-समयपर बुद्धिपूर्वक फेरफार किये हुअे भी जान पडते हैं ।

अिस तरह अिन लिपियोंका अध्ययन अेक बहुत दिलचस्प विषय है । अिनके स्वरूपकी जाँच करने पर अुलटी तरफ़ लिखी जानेवाली अरबी–यहूदी लिपियां और बिलकुल अलग दिखाअी पड़नेवाली रोमन-ग्रीक लिपियोंमें भी ब्राह्मी लिपिके साथ सगापन दिखाअी पड़ता है, और अिससे यह अनुमान होता है कि ये सब लिपियां मूलमें अेक ही लिपिसे पैदा हुअी होंगी ।

जिस तरह बाप-बेटे बिलकुल अेकसे लगते हैं, दो जुड़वां भाअियोंमें भुलावेमें डालनेवाली समानता दिखाअी पड़ती है, फिर भी वे बिलकुल

अेकसे नहीं होते; जैसे हरसाल ॠतुअें बराबर आती हैं, फिर भी अेक सालकी ॠतु हूबहू किसी दूसरे सालकी ॠतु जैसी नहीं होती; अिसी तरह जीवित भाषा, लिपि और वेशको अेकसा रखनेकी हम चाहे जितनी कोशिश करें, वे बिल्कुल अेकसे कभी नहीं रह सकते। जानबूझकर हम भले अुनमें कोअी फेरफार स्वीकार न करें, मगर अनजाने ही अुनमें फेरफार हो जाते हैं। यह मुझे बापदादोंसे विरासतमें मिली हुअी भाषा, लिपि, या पोषाक है, अैसा कहना झूठे अभिमानके सिवा और कुछ नहीं है। अैसा कहनेवालेके पूर्वज कभी न कभी तो दूसरी ही भाषा बोलते, लिपि लिखते और पोशाक पहनते ही होंगे। कोअी व्यक्ति अपने बाप-दादोंकी अेक भी चालसे पूरी तरह चिपका नहीं रह सकता। अच्छा है अिसलिअे न छोड़नेका आग्रह ठीक है, मगर बापदादोंसे चला आया है, अिसलिअे अच्छा न हो फिर भी अुससे चिपके रहनेके आग्रहका क्रान्तिकी बातोंसे मेल नहीं बैठता।

दो व्यक्तियोंमें भी अपनी अपनी अलग विशेषतायें होती हैं और वे अेक होनेकी कोशिश करें, फिर भी वे नहीं जातीं। अिसी तरह दो प्रजाओंमें, प्रजाके अलग अलग वर्गों वगैरामें अपनी अपनी विशेषतायें रहेंगी, मगर अिसलिअे अुन्हें अलग रखनेका हठ करना, अुन विशेषताओं पर झूठा अभिमान करना, अुन्हें धर्मका रूप देना ठीक नहीं है। मनुष्योंके बीच दिलोंकी अेकताकी तरह ही बाहरी अेकता लानेकी कोशिश करना भी ज़रूरी है। अगर विशिष्टता या भेदोंके लिअे ज़रूरी कारण हों या अमुक भेद रखनेसे मनुष्य जातिका ज़्यादा हित किया जा सकता हो, तो वहाँ अुन्हें भले रहने दिया जाय। मगर जहाँ अैसी ज़रूरत समझमें न आवे, वहाँ अहिंसक व्यक्तिके लिअे भेदोंको सहन करना लाज़मी है। मगर अपने भेदकी पूजा करना ठीक नहीं है।

मुसलमान अगर धर्मके कारण अुर्दूका आग्रह रखें, प्रान्तवाले प्रान्तीय अस्मिताकी वजहसे अपनी अपनी लिपियोंका आग्रह रखें, नागरीको हिन्दुस्तानकी अस्मिताके लिअे बनाये रखनेका आग्रह हो, रोमन लिपि सिर्फ परदेशी होनेके कारण छोड़ने लायक जान पड़े, तो ये सारी दलीलें

क्रान्तिकी नहीं हैं। सबके गुण-दोषोंका स्वतंत्र और मानव-हितकी दृष्टिसे विचार करनेके लिअे विवेकी व्यक्तिको तैयार रहना चाहिये।

अिन प्रश्नों पर भी शिक्षण खंडमें ज़्यादा विचार किया गया है।

१५-९-'४७

१३

अेकता और विविधता

भाषा, लिपि, वेश, वंश-विरासत-विवाह-मिल्कियत वगैराके नियम, शिष्टाचार-सदाचार-मान-पूजा-सत्कार वगैराकी रूढ़ियाँ, घर-गली-गाँव-सभा-मंडप आदिकी रचना, आसन-भोजन-स्नान वगैराके रिवाज आदि अिस बात पर विचार करनेकी ज़रूरत खड़ी करते हैं कि अेकता और विविधताका कहाँ और कैसे खयाल रखा जाय।

दुनियामें विविधतायें तो रहेंगी ही। यह बिल्कुल ठीक है कि सबको सोलह आने अेकसा नहीं बनाया जा सकता। कअी विविधतायें कुदरतकी ही बनाअी हुअी हैं। अलग अलग जगहोंकी अलग अलग आबोहवा, नैसर्गिक सम्पत्ति, सुविधा-असुविधा वगैराके कारण विविधतायें पैदा होती है। अिनकी वजहसे खान-पान, वेश, घर-गाँव वगैराकी रचना, धंधों वगैराकी विशेषताओं, व शिष्टाचार-सदाचारकी रूढ़ियोंमें फर्क पड़ता है और अुसे रखना पड़ता है।

कअी विविधतायें संपर्कके अभावमें पैदा होती हैं और कअी नये सम्पर्कोंसे बनती हैं। मूलमें अेक ही भाषा, रिवाज आदिको माननेवाले जब अेक दूसरेसे बहुत दूर जा बसते हैं और अुनका आपसमें मिलना-जुलना बन्द हो जाता है, तो अेक ही भाषा (अुच्चारण), लिपि, वेश, रूढ़ि वगैरा धीरे धीरे अितने बदल जाते हैं कि वे अेक दूसरेसे बिल्कुल ही भिन्न जान पड़ते हैं। रेलवे वगैरा प्रवासकी सुविधाओंके कारण अब पहलेकी अपेक्षा अिस तरहका सम्पर्क कम टूटता है। सम्पर्कके अभावमें पहले 'बारह कोस पर बोली न्यारी' वाली कहावत चरितार्थ होती थी;

और सिर्फ बोली ही नहीं, बल्कि पगड़ी और जूतोंके आकार भी बदल जाते थे और विवाह-शादीकी रूढ़ियोंमें भी भिन्नता आ जाती थी।

कअी बार जब अेक ही प्रदेशका अेक हिस्सा अेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आता है और दूसरा दूसरे प्रकारके लोगोंके, तब भी विविधता पैदा होती है।

कअी बार जान या अनजानमें कुछ फ़र्क हो जाते हैं, और वे फ़र्क स्थायी बन जाते हैं, और जिन्होंने वे नहीं किये होते, वे अलग पड़ जाते हैं।

अिस तरह प्रकृति, देश, काल, क्रिया, संग, शिक्षा-दीक्षा, नित्य-नैमित्तिक प्रसंग, सुविधा-असुविधा वगैरासे विविधताअें पैदा होती हैं और होती रहेंगी।

मगर यह सोचना अेक प्रकारकी भूल है कि ये विविधताअें पैदा होती हैं, अिसलिअे अिन सबको रखना ही चाहिये, अिन्हें टालनेकी कोशिश ही नहीं करनी चाहिये, फिरसे अेकता कायम करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये, अिन विविधताओंमें ही अपनी अस्मिता और अभिमान भर देना चाहिये और विविधतामें ही अेकता देखनी चाहिये। और विविधताके कारणोंकी जाँच किये बगैर अेक ही साँचेमें ढले हुअे मालकी तरह ज़बरदस्ती अेकता कायम करनेकी कोशिश करनेमें दूसरे प्रकारकी भूल है।

प्रकृतिके भेद (जैसे कि स्त्री-पुरुषके, चमड़ीके रंगके), कुदरतके भेद (जैसे कि लाल, काली, सफेद, पहाड़ी, मैदानी, रेगिस्तानी वगैरा ज़मीनके; समुद्र किनारेसे अूँचाअीके, रेखांश-अक्षांशके तथा अलग अलग ऋतुओंके), परिस्थितिके भेद (जैसे कि शान्तिकालके, युद्धकालके, सुकाल-दुकालके, अुम्रके, माता-पिताके, भाव-अभावके वगैरा) जो विविधतायें निर्माण करते हैं, वे थोड़ी बहुत लाज़मी हैं। अिन कारणोंसे पैदा होनेवाले प्रजाओंके जीवनधारणके भेदोंको सहन करना चाहिये और अुन्हें रखते हुअे भी अुनके बीच अच्छे सम्बन्ध पैदा करने चाहियें।

मगर शिक्षा-दीक्षाके भेदोंके कारण पैदा होनेवाले भेद और अूपर गिनाये हुअे भेद जिस जगह या जिस कालमें अनिवार्य हों, अुससे भिन्न

जगह या भिन्न कालमें भी अुन्हें अनिवार्य ही नहीं मानना चाहिये। गुजरातका आदमी अगर बंगालमें जाकर रहे, तो अुसका अपने साथ गुजरातकी भाषा, लिपि, वेश, रीति-रिवाज, अुत्तराधिकारके कायदे, विवाह आदिकी विधियाँ, आदर-सत्कार-पूजा वगैराके तरीके ले जाकर अुन्हें कायम रखनेका आग्रह करना या अधिकार माँगना अुचित नहीं है। अलग अलग धर्मके लोगोंकी धर्मविधियोंमें (यानी देवपूजा तथा प्रार्थना वगैरामें) भले अपनी अपनी मान्यताके अनुसार फर्क हों; मगर सामाजिक कार्योंमें — जैसे कि सभाओं, सामाजिक सम्मेलनों, विवाह आदिके मौके पर किये जानेवाले स्वागत वगैरामें — हिन्दू अेक तरहसे सत्कार-शिष्टाचार करें और मुसलमान दूसरी तरहसे, अैसा नहीं होना चाहिये; बल्कि अुस जगहका बहुजन समाजका जो शिष्टाचार हो, वही सबको स्वीकार करना चाहिये। 'जैसा देस वैसा भेस' वाली कहावतमें बड़ी समझदारी भरी हुआी है। मगर भेसका मतलब सिर्फ कपड़े ही नहीं, बल्कि भाषा, लिपि, वगैरा अूपर गिनाआी हुआी सभी चीज़ोंको अिसमें शामिल समझना चाहिये। सिर्फ चार दिनोंके लिअे ही विलायत जानेवाला या अिस देशमें थोड़े दिनोंके लिअे ही आनेवाला व्यक्ति अपना वेश कायम रखे, यह बात तो समझमें आ सकती है। मगर कोआी हिन्दुस्तानी विलायतमें लम्बे अरसे तक — मान लो छह महीनों तक — रहना चाहे, या कोआी यूरोपियन या हिन्दुस्तानके बाहरका व्यक्ति यहाँ अुतने ही समय तक रहना चाहे, तो सभ्यता अपने वेशको पकड़े रखनेमें नहीं, बल्कि अुस जगहका वेश वगैरा धारण करने व वहाँकी भाषा बोलनेकी कोशिश करनेमें मानी जानी चाहिये। अलग अलग प्रान्तोंके बीच तो अैसा विशेष रूपसे होना चाहिये। मगर किसी विचित्र अहंभावके वशमें होकर हम दूसरी जगह रहकर भी वहाँकी प्रजाके साथ पूरी तरहसे घुल-मिल जानेके बदले अपनी पुरानी रीतियोंसे चिपके रहते हैं और अैसा करना अपना अधिकार समझते हैं। अैसा नियम होना चाहिये कि गुजरातमें बसनेवाले हिन्दू-मुसलमान-पारसी-आीसाआी-अंग्रेज सब गुजरातके लिअे निश्चित किया हुआ वेश ही पहनें, गुजराती भाषा ही अपनावें और गुजराती लिपिका ही स्वीकार करें। अिस विषयमें प्रान्तीय विशेषता ही कुछ न हो, और सारे हिन्दुस्तानमें सब अेकसे ही हों —

भले अिसमें दो-चार विकल्प या प्रकार हों — तो वह ज़्यादा अिष्ट है। सारी दुनियामें अगर अैसा किया जा सके, तब भी तात्त्विक दृष्टिसे अिसमें कोअी बुराअी नहीं है। मगर सबके बीच अपना अलग बाड़ा बनाकर रखनेका आग्रह अिष्ट नहीं है; और न अिसे कानून द्वारा मंजूर करवानेकी मांग ही अुचित है। भाषा, लिपि, वेश, वंश-विरासत, सदाचार, शिष्टाचार वगैरा किसी कालके और देशके समाजकी सार्वजनिक चीज़ें है; अुन्हें किसी खास फिरकेकी चीज़ें बना देना ठीक नहीं है।

अेक ओर हम अखंड हिन्दुस्तानके हिमायती हैं। कहते है कि केन्द्रीय सत्ता बलवान होनी चाहिये। देशके टुकड़े होनेका हमारा शोक अभी दूर नहीं हुआ है। हम दो राष्ट्र (नेशन) के सिद्धान्तके प्रति अपना विरोध जाहिर करते हैं। हम चाहते हैं कि अल्पसंख्यक-बहु-संख्यकका सवाल ही न रहे और सब धर्मोंके लोग अेक दूसरेके साथ हिल मिलकर भाअी भाअीकी तरह अेक हो जायँ। जात-पांतके भेदभाव तोड़नेका भी हम प्रचार करते हैं और समाजवादके आदर्शमें भी अपना विश्वास जाहिर करते है।

दूसरी तरफ़ हमारी प्रवृत्तियाँ अिस तरह काम करती है, मानो हमारे दिलोंमें डर बैठ गया हो कि अगर सारा हिन्दुस्तान अेक हो गया, केन्द्रीय सत्ता मजबूत हो गअी, जात-पांत टूट गअी, तो फिर हमारा व्यक्तित्व क्या रहेगा? हमारा 'मैं' या हमारा मंडल भी कुछ है, अिस अभिमानको हम कैसे कायम रख सकेंगे? अिसलिअे हम अपने प्रान्तीय भेदोंपर और अुन्हें स्थिर करने तथा बढ़ानेपर ज़ोर दे रहे हैं। तामिल और तेलुगु लोग दुनियाके दूसरे सब लोगोंके साथ रह सकते हैं और काम कर सकते हैं, मगर अुन दोनोंका अेक दूसरेके साथ रहना और काम करना अशक्य है! अिन दोनोंके अलग अलग रहनेके सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं है। अैसा ही संघर्ष बंगाली-बिहारीका, कलकत्तामें मारवाड़ी-बंगालीका, मध्यप्रान्तमें हिन्दी-महाराष्ट्रीका और बम्बअीमें गुजराती-मराठी-कानड़ीका है।

राजतंत्रकी सुविधा या भाषाकी सुविधा वगैराकी दृष्टिसे भाषावार विद्यापीठोंकी स्थापना करना या प्रान्तीय प्रबन्धके हिस्से करना अेक चीज़

है। मगर अेक भाषा बोलनेवालेकी दूसरी भाषा बोलनेवालेसे न बने, वे अेक दूसरेसे अीर्ष्या करें, और जीवनके छोटे-बड़े हरअेक क्षेत्रमें भाषाका भेद गाय-भैंसके बीचके भेदसे भी ज़्यादा महत्त्वका बन जाय, तो अिसे हमारी कलह-प्रियताका ही चिन्ह समझना चाहिये।

अेक तरफ हम संयुक्त-मतदार-मंडलोंका और अुनमें लाज़मी तौरपर किसीके लिअे खास जगहें न रखनेका कानून बनाते हैं, नौकरियोंमें भी अिसी नीतिकी हिमायत करते हैं। और दूसरी तरफ हम कानूनसे बाहर अिससे भी ज़्यादा मज़बूत रूढ़ियाँ (conventions) क़ायम करनेकी कोशिश करते हैं। चुनावोंमें अुम्मीदवार खड़े करनेमें, मंत्रिमंडल चुननेमें, अुनके मंत्री चुननेमें, स्पीकर और डिप्टी स्पीकरकी पसंदगीमें, कमेटियोंकी नियुक्तिमें — कहीं भी सिर्फ योग्यताके आधारपर तो पसंदगी की ही नहीं जा सकती; बल्कि योग्यता तो गौण बन जाती है। ब्राह्मण-अब्राह्मण, हरिजन, आदिवासी, पिछड़ी हुअी जातियाँ, पारसी, अीसाअी, मुसलमान, गुजराती, महाराष्ट्री, कानड़ी, नागपुरी, वैदर्भी, बंगाली, बिहारी, स्त्री, पुरुष वग़ैराके यथायोग्य प्रमाण बनाये रखना ही महत्त्वकी चीज़ बन जाती है। और यह प्रपंच अितना बढ़ता जाता है कि हरिजन है मगर भंगी नहीं है, मांग नहीं है; पिछड़ी हुअी जातिका है मगर बुनकर नहीं है, तेली नहीं है; सुन्नी है, मगर शिया नहीं है; अीसाअी है, मगर अेंग्लो-अिंडियन नहीं है; वग़ैरा वग़ैरा शिकायतें करते हुअे हमें संकोच नहीं होता। और अिन शिकायतोंको रद्द करनेकी हिम्मत भी किसीकी नहीं होती, क्योंकि नेताओंके खुदके ही दिलोंसे यह दृष्टि नाबूद नहीं होती।

हिन्दी-अुर्दू-हिन्दुस्तानी भाषा और लिपि वग़ैराके झगड़े, फ़िरकेवाराना झगड़े, प्रान्तीय अीर्ष्या वग़ैरा सबके मूलमें अेक ही चीज़ है: हमारे दिलोंकी क्रान्ति नहीं हुअी; हम अपनी संकुचित अस्मिताओंको छोड़ नहीं सकते, अिससे छोटे छोटे टुकड़ोंमें बँट जानेकी ओर ही हमारा पुरुषार्थ बारबार ज़ोर किया करता है।

१९-९-'४७

जड़मूलसे क्रान्ति

भाग दूसरा

आर्थिक क्रान्तिके सवाल

१
चौथा परिमाण

अब आर्थिक सवालोंको लें। किसी चीज़का माप बतलाना हो, तो मामूली तौरपर अगर अुसकी लम्बाअी, चौड़ाअी और मुटाअी, ये तीन परिमाण बतला दिये जायँ, तो माना जाता है कि अुसका पूरा वर्णन हो गया। मगर आधुनिक भौतिकशास्त्री कहते है कि यह वर्णन काफ़ी नहीं है। अिसके साथ साथ दूसरे दो परिमाण और भी बताने चाहियें, और वे हैं वर्णनके काल और स्थानके। क्योंकि जो चीज़ धरतीकी सतह पर अमुक परिमाणवाली होती है, वह चंद्रपर अुसी परिमाणकी नहीं रहेगी और गुरुपर अुसका परिमाण फिर बदल जायगा। अिसके सिवा कालभेदसे भी अुसका माप जुदा रहेगा। अिसमें स्थानका महत्त्व ज़रा विचार करनेपर शायद समझमें आ जाय। फिर वर्णन करते वक़्त चूँकि चीज़के साथ ही अुसके स्थानका अस्तित्व भी मानकर चलते हैं, अिसलिअे मामूली तौरपर अुसके विषयमें अलगसे विचार नहीं करना पड़ता। मगर भौतिकशास्त्रियोंका निर्णय है कि स्थानसे भी हर क्षण बदलनेवाले काल–समय–का महत्त्व बहुत ज़्यादा है और वह आसानीसे समझमें नहीं आता। फिर भी कालके विचारमेंसे ही आअिन्स्टाअीनका 'रिलेटिविटी'—सापेक्षताका सिद्धान्त पैदा हुआ; जिसने गुरुत्वाकर्षण वग़ैराकी पुरानी मान्यताओंमें बहुत फ़र्क़ कर डाला। देशका परिमाण वस्तुके साथ ही माना हुआ होनेसे कालको चौथा परिमाण कहा जाता है।

अैसा ही कुछ आर्थिक सवालोंको समझनेके बारेमें है। पहले सम्पत्तिके कारणोंमें सिर्फ दो चीज़ें गिनाअी जाती थीं: कुदरत और मज़दूरी। यानी कुदरती सामग्रीकी सुलभता और मज़दूरीकी सुलभता परसे सम्पत्तिका माप निकाला जा सकता था। आगे चलकर मालूम हुआ कि सिर्फ ये दो परिमाण काफ़ी नहीं हैं। कुदरती सामग्रीकी और मज़दूरीकी सुलभता किसे और किस प्रकारकी है, यह भी सम्पत्तिका माप

निकालनेके लिअे अेक महत्त्वका परिमाण है। अिसकी सुलभताका विचार करते हुअे ही पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, औद्योगीकरण, राष्ट्रीयकरण, यंत्रीकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण आदिके अनेक वाद पैदा हुअे हैं। और जिस तरह जात-पाँत, धर्म वग़ैराके भेदोंके कारण आपसमें झगड़नेवाले अनेक वर्ग बनते है, अुसी तरह अिन वादोंके आग्रहसे भी बने हैं।

जैसे कअी बार क़ानूनकी मददसे कुछ धर्म अपना अधिकार जमाते है, वैसे ही अलग अलग वादोंको माननेवाले भी अैसे किसी अेक वादका अधिकार क़ायम करनेकी कोशिश करते है। जहाँ मौजूदा राज्यतंत्र अिस कोशिशके अनुकूल नहीं होता, वहाँ अुस तंत्रको ही बदलनेकी कोशिश होती है। किसी वादकी स्थापनाको आर्थिक क्रान्ति कहते हैं, और अुसके लिअे राज्यतंत्रके बदलनेको राजकीय क्रान्ति। अिस तरह क्रान्तिका अर्थ (मामूली तौरपर कुदरती सामग्रीपरके अधिकार और व्यवस्था सम्बन्धी) किसी नये वादकी ज़बरदस्ती या क़ानूनी ढंगसे स्थापना करना हो गया है।

मगर सम्पत्तिका माप निकालनेके लिअे कुदरती सामग्री, मज़दूरी और अुससे सम्बन्ध रखनेवाला वाद ये तीन परिमाण काफ़ी नहीं हैं। अिसमें भी दूसरे दो और परिमाणोंपर विचार करना शेष रहता है। ये दो परिमाण अगर शून्य हों, तो विपुल कुदरती सामग्री, विपुल मज़दूरी और सारे श्रेष्ठ वादोंपर रचा हुआ राज्यतंत्र तीनोंके होते हुअे भी सम्पत्तिके गणितका जवाब शून्य ही निकल सकता है। जिस तरह किसी चीज़का शुद्ध गणित करनेमें देश-काल महत्त्वके परिमाण हैं, अुसी तरह सम्पत्तिका गणित करनेमें दो महत्त्वके परिमाणोंकी अपेक्षा रहती है। और वे हैं: प्रस्तुत प्रजाका ज्ञान और चरित्र।

अिनमेंसे ज्ञानका महत्त्व आज मामूली तौरपर सभी स्वीकार कर लेंगे। ज्ञानमें कौन कौनसी बातोंको शामिल करना चाहिये, किन्हें कितना महत्त्व दिया जाय, अिसके बारेमें थोड़ी बहुत अस्पष्टता या मतभेद शायद रहे। यह कहनेकी ज़रूरत नहीं कि यहाँ ज्ञानका मतलब 'अपराविद्याओं' (ब्रह्मविद्याके सिवा अन्य विद्याओं) सम्बन्धी ज्ञानसे है। फिर भी

अुसकी आवश्यकताके सम्बन्धमें निवृत्तिवादी (दुनियाकी झंझटोंसे दूर रहकर अेकान्तवास करनेवाले) के सिवा शायद ही कोअी शंका करेगा। यह परिमाण गृहीत किये जैसा ही है।

चरित्रके महत्त्वके बारेमें यों तो सभी अेकमत हो जायेंगे। निवृत्तिवादी भी अुसकी ज़रूरतसे अिनकार नहीं करेगा। भौतिकवादी भी मुँहसे अुसका अस्वीकार नहीं करेगा। फिर भी जिस तरह वस्तुका माप दिखानेमें कालके निर्देशका महत्त्व आसानीसे ध्यानमें नहीं आ सकता, अुसी तरह चरित्रका महत्त्व मनुष्योंके — नेताओंके या जनताके — ध्यानमे नहीं रहता। अिसके सम्बन्धमें यही आशा रखी जाती है कि अिसकी कमीकी पूर्ति क़ानूनकी या दंडकी व्यवस्था द्वारा हो जायगी। राजकीय क्रान्तिसे, नये प्रकारके वादपर क़ायम की हुअी आर्थिक व्यवस्थासे या राज्यतंत्रके संचालकोंमें ज़बरदस्त फेरबदल करनेसे जनताका चरित्र अूँचा नहीं अुठता। अुल्टे अैसे अेकाअेक और अनपेक्षित फेरफारसे कअी अनिष्ट तत्त्व अवश्य दाखिल हो जाते है। **राज्य द्वारा** नये धर्मकी स्थापनासे भी चरित्र अुच्च नहीं होता। यह कैसे हो, अिसपर अलगसे विचार करेंगे। यहाँ तो अिस बातपर जोर देनेकी ज़रूरत है कि कुदरती सामग्री, मनुष्यबल, अनुकूल राज्य और अर्थवादकी स्थापना तथा ज्ञान, अिन सबके रहते हुअे भी अगर योग्य प्रकारका चरित्रधन नेताओं और प्रजाओंके पास न हो, तो अिस अेक ही कमीके कारण देश और प्रजा दुःख और ग़रीबीमें डूब सकती है। अिस चौथे परिमाणका महत्त्व ठीक तरहसे समझना चाहिये।

२१-९-'४७

२

चरित्र निर्माण

कुदरत, मज़दूरी, ज्ञान, योग्य राज्यतंत्र और अर्थव्यवस्थाके साथ चरित्र भी समाजकी तरक्कीके लिअे लाज़मी और महत्त्वका धन है, अिसे स्वीकार करनेके बाद अिसकी वृद्धिके अुपायों पर विचार करना शेष रहता है।

'चौथा प्रतिपादन' वाले प्रकरणमें चरित्रके मुख्य अंग गिनाये गये हैं। अेक ही बात फिरसे कहनेका दोष अपने सिर लेकर भी मैं अुन्हें यहां फिरसे गिनाता हूं:

जिज्ञासा, निरलसता, अुद्यम,
अर्थ व भोगेच्छाका नियमन।
शरीर स्वस्थ व वीर्यवान;
अिन्द्रियाँ शिक्षित स्वाधीन;
शुद्ध, सभ्य वाणी-अुच्चारण,
स्वच्छ, शिष्ट वस्त्र धारण;
निर्दोष, आरोग्यप्रद, मित आहार;
संयमी, शिष्ट स्त्री-पुरुष-व्यवहार।
अर्थव्यवहारमें प्रामाणिकता व वचनपालन;
दम्पतीमें अीमान, प्रेम व सविवेक वंशवर्धन;
प्रेम व विचारयुक्त शिशुपालन
स्वच्छ, व्यवस्थित, देह-घर-ग्राम,
निर्मल, विशुद्ध जल-धाम,
शुचि, शोभित सार्वजनिक-स्थान।
समाजधारक अुद्योग व यंत्रनिर्माण—
अन्न-दूधवर्धन प्रधान,

सर्वोदय-साधक समाज-विधान ।
मैत्री-सहयोगयुक्त जन-समाश्रय,
रोगी-निराश्रितको आश्रय;
ये सब मानव-अुत्कर्षके द्वार
समाज-समृद्धिके स्थिर आधार ।

अिन गुणोंकी समाजमें वृद्धि हो, अिस अुद्देश्यसे यहाँ हम अुनके साधनोंके बारेमें विचार करेंगे ।

अिस सम्बन्धमें दो-तीन तरहकी प्रणालिकायें व्यवहारमें हैं । सुविधाके लिअे अुन्हें दीक्षा पद्धति, शिक्षा पद्धति और संयोग (environment) पद्धति नाम दिये जा सकते है ।

पहली पद्धतिमें दीक्षा या सदुपदेश पर ज़ोर है । बार बार यह बात प्रजासे कहते रहना, अिसका अुपदेश देनेवाली पुस्तकोंका श्रवण-वाचन-मनन कराना, अिसकी फलश्रुति बतलाना, अिससे सम्बन्ध रखनेवाली कथाअें कहना, जप जपवाना (नारे लगवाना) वग़ैरा वग़ैरा अिसमें शामिल है।

दूसरी पद्धतिमें शिक्षा या तालीमपर और पुरस्कार तथा दंडपर जो दिया जाता है । बचपनसे ज़रूरी आदतें डालना, अिन्सानके गले अुतरे या न अुतरे, वह समझे या न समझे, अुसे अैसे अनुशासन — निज़ाम — में रख देना कि अुसके मुताबिक बरतनेकी अुसे आदत पड़ जाय । आदत डालनेके लिअे मौज़ूँ तरीकोंसे अिनामका लोभ या दण्डका भय भी बतलाना । चरित्रके अंगोंका अभ्यास करके अुनकी यंत्रकी तरह आदत (mechanization) तथा कवायद (regimentation) कराना।

तीसरी पद्धतिमें अैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग पैदा करनेपर ज़ोर है, जिनमें योग्य प्रकारके चरित्रकी ओर मनुष्यका स्वाभाविक झुकाव हो । बचपनसे ही भीलको बाघ-चीतेका, ग्वालेको गाय-बैलका, और शहरीको मोटरों और ट्रामोंकी दौड़ादौड़का भय नहीं लगता । खलासी चलती स्टीमरमें अितने अूँचे बाँसपर मज़ेमें चढ़ जाता है, जहाँसे दूसरे किसीकी आँखोंमें तो अँधेरा ही छा जाय, भर दरियामें भी वह नहीं घबराता; मगर पंडितके लड़केको रसपूर्ण लगनेवाली चर्चामें अुसे नींद आ जाती है।

साहस पैदा करनेवाले संयोगोंमेंसे साहस पैदा होता है और वार्तारुचि अुसके अपने संयोगोंमेंसे अुत्पन्न होती है। जिसे चार व्यक्ति मिलकर ही कर सकते हों, अैसे काम करनेकी प्रवृत्तिमें शामिल होनेसे अिस प्रकारके सहयोगकी आदत पड़ती है। जिसको सिर्फ अकेले हाथों ही काम करनेके संयोग मिले हों, सम्भव है अुसे किसीके साथ काम ही न करते बने। आपसी प्रेमसे भरे हुअे परिवारमें पले हुअे बच्चों और साथ रहते हुअे भी अपना ही स्वार्थ साधनेवाले भाअियों, देवरानी-जिठानियों, सास-बहुओं वगैराके बीच पले हुअे बच्चोंके चरित्रमें बहुत फ़र्क़ पड़ जाता है। जहाँ अन्न खाये नहीं खूटता, पानीकी कमी नहीं होती अैसे देशमें अतिथि-सत्कारका गुण स्वाभाविक होता है, अुदारता, दान वगैराकी वृत्तियाँ भी होती हैं; यही देश जब अन्न-जलसे मोहताज़ हो जाता है, तब अिन्सानोंको कंजूस — अनुदार — बना डालता है। अिस तरह जैसा चरित्र अिष्ट हो, अुसके अनुकूल बाहरी संयोग निर्माण करना तीसरी पद्धतिका ध्येय है।

पहली दो पद्धतियाँ पुराने ज़मानेसे प्रसिद्ध हैं, और आज तक अुन्हींपर ध्यान दिया गया है। हमारे देशमें अभी अिन दो पर ही ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। अिधर कुछ दिनोंसे पश्चिमके विद्वान् तीसरी पद्धतिपर ज़्यादा ज़ोर दे रहे हैं। हमारे यहाँ अभीतक अिसकी ओर दुर्लक्ष्य ही रहा है।

तेज, जातवान, अच्छे घोड़ेको प्रेरणा करनेके लिअे मालिकके मुँहका शब्द काफ़ी होता है। यह दीक्षा पद्धति है। अनगढ़, और जिसकी तालीममें ज़्यादा मेहनत न की गअी हो, अैसे घोड़ेको हाँक और चाबुकसे प्रेरणा की जाती है या अुसके आगे लालच की चीज़ रखी जाती है। यह शिक्षा पद्धति है। दीमक, चींटी, मधुमक्खी, भौंरा, पतिंगा, पक्षी वगैरामें संयोग ही अुनको अपनी अपनी प्रवृत्तियोंमें लगानेवाला चरित्र पैदा करते हैं। संयोग बदलनेपर जुदा किस्मकी आदतोंवाली जातियाँ पैदा हो जाती हैं।

मनुष्योंमें कुछ व्यक्ति तेज, जातवान घोड़े जैसे होते हैं; अुनके लिअे दीक्षा-पद्धति काफी होती है। सबको अनगढ़ घोड़ेकी तरह ज़रूर रखा जा सकता है; मगर अिससे जातवान घोड़े बिगड़ेंगे और साधारण घोड़े

जीवनभर अनगढ़ — परप्रेरित ही रहेंगे। वे कभी सच्चे अर्थमें चरित्रवान नहीं बनेंगे। अिसी तरह सबके लिअे शिक्षा-पद्धति काममें लाअी जा सकती है, मगर अिससे चरित्रको ॐचा अुठानेमें सफलता नहीं मिल सकती। ज़्यादासे ज़्यादा कुछ यंत्रवत् आदतें भले पड़ जायँ। फिर भी, यह पद्धति कुछ अंशों तक रहेगी ही।

मगर यह समझना ज़्यादा ठीक है कि मनुष्य मुख्य रूपसे मक्खीकी जातिका प्राणी है। वह घरेलू मक्खीकी तरह असंख्य होकर भी असंगठित और निश्चरित्र हो सकता है, या योग्य संयोगोंमें मधुमक्खी जैसा व्यवस्थित भी रह सकता है। जंगली मधुमक्खीसे लगाकर बक्समें रहनेवाली मधुमक्खी तक वह अनेक जातियोंवाला हो सकता है।

चरित्र-गठनके लिअे योग्य संयोग निर्माण करनेकी ज़रूरतों पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है।

चरित्र-निर्माणके लिअे कुछ अशोंमें योग्य अनुकूल संयोगोंकी और कुछ अंशोंमें योग्य प्रतिकूल संयोगोंकी ज़रूरत होती है। बेहद अनुकूलतायें चरित्रको शिथिल कर सकती है और बेहद प्रतिकूल संयोग मनुष्यको और अुसके साथ अुसके चरित्रको कुचल सकते हैं। अनुकूलतायें और प्रतिकूलतायें अगर योग्य परिमाणमें रहें, तो वे चरित्रवर्धक साबित होती हैं। अलबत्ता, अिनके साथ अिनके अनुरूप शिक्षा-दीक्षा भी चाहिये।

मनुष्य किस हद तक स्वाधीन संयोगोंका स्वामी और निर्माण करनेवाला है, और किस हद तक संयोगोंके आधीन, पराधीन प्राणी है, अिस सवालका निश्चित जवाब देना कठिन है। मगर बहुजन समाजकी दृष्टिसे यदि हम अैसा मानकर चलें कि मनुष्य ज़्यादा अंशोंमें संयोगोंके आधीन है, और कुछ अंशोंमें वह स्वाधीन और संयोगोंका स्वामी व निर्माण करनेवाला भी है, तो मेरा खयाल है कि भूलें नहीं होंगी; और अगर होंगी भी, तो कमसे कम होंगी।

मनुष्यका यह स्वभाव होता है कि अुससे अनजाने हुअी गलतियोंका सारा दोष संयोगोंके सिर मढ़कर वह अपना बचाव करता है, मगर दूसरेको अुसकी भूलोंके लिअे दोष देते वक्त यह मानकर चलता है कि वह दूसरा आदमी स्वाधीन ही है; और कहीं वे भूलें अुसके ध्यानमें पहले भी आअी

हों, तो वह खास तौर पर अैसा कहता है। अिससे अुल्टे अपनी सफलताओंको वह अपने ही कर्तृत्वका परिणाम समझता है, और दूसरेकी सफलताओंको अुसे मिले हुअे अनुकूल संयोगोंका।

बहुजनसमाजको यदि किसी खास दिशामें मोड़ना हो, कोअी विशेष चरित्र अुसमें निर्माण करना हो, किसी दिशासे अुसे लौटाना हो, तो दीक्षा और शिक्षासे भी ज़्यादा अुसके लिअे योग्य, अनुकूल या प्रतिकूल संयोग पैदा करना समाजके विधायकोंका लक्ष्य होना चाहिये। राज्यव्यवस्था, विकेन्द्रीकरण, यंत्रीकरण, समाजवाद वग़ैरा जहाँ तक अैसे संयोग पैदा करते हैं, वहाँ तक अुनका महत्त्व है। मगर यह नहीं समझना चाहिये कि अितनेसे ही सारे काम बन जायेंगे।

२२–९–'४७

३

दीर्घ व अल्पकालीन योजनायें

अगर हमें अिस बातका ठीक ठीक भान हो जाय कि किसी भी समाजकी समृद्धिके लिअे अुसकी प्रजाका चरित्र-गठन बड़े महत्त्वकी चीज़ है, तो जो कअी किस्मकी योजनायें हम बनाते हैं, आन्दोलन चलाते हैं तथा अेक दूसरेके गुणदोष निकालते हैं, अुन सबके स्वरूपमें बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ जाय। हम सभी चाहते हैं कि देशकी आर्थिक समृद्धि बड़ी तेजीसे हो। हम सब महसूस करते हैं कि देशकी आबोहवा और कुदरती सम्पत्तिको देखते हुअे कोअी कारण नहीं है कि प्रजा अैसी गरीबीके कीचड़में फँसी रहे। पूँजीवादी, समाजवादी, गांधीवादी, साम्यवादी सबके बीच तीव्र मतभेद होनेपर भी हरअेकका ध्येय देशको धनधान्यसे समृद्ध करना है। अिस ध्येयके सम्बन्धमें दो मत नहीं हैं।

जुदे जुदे किस्मकी राजकीय, आर्थिक, सामाजिक वग़ैरा व्यवस्थायें कायम करके, अल्प और दीर्घकालीन योजनायें बनाकर सभी कोअी देशकी

कुदरती सम्पत्तिसे ज़्यादासे ज़्यादा फायदा अुठानेका हिसाब लगानेमें लगे हैं। बालिग मताधिकार (adult franchise), औद्योगीकरण (industrialization), राष्ट्रीयकरण (nationalization), विकेन्द्रीकरण (decentralization), सहकारी खेती और गोपालन, बलवान केन्द्रीय सत्ता (strong central government) वगैरा विविध योजनाओंका, कभी कभी परस्पर विरोधोंके बावजूद, अेक ही अुद्देश्य है कि देशकी कुदरती सम्पत्ति ज़्यादासे ज़्यादा बढ़े और अुसका लाभ ज़्यादासे ज़्यादा लोगोंको मिले। अिसके लिअे अेक तरफ तो मनुष्य आपसमें अेक दूसरेके गले काटनेको भी तैयार हैं और दूसरी तरफसे सुलह-शान्ति कायम करनेके लिअे बेचैन भी हैं। अेक तरफ वह पाकिस्तान-हिन्दुस्तान, अरबस्तान-यहूदिस्तान बनाता है, अेटम बम और कॉस्मिक किरणोंकी शोध करता है और दूसरी ओर UNO की प्रवृत्ति भी चलाता है।

देशकी कुदरती सम्पत्तिकी बारीकीसे गिनती लगानेमें कअी अर्थशास्त्री लगे हुअे हैं। अिस सम्पत्तिका कितनी तरहसे अुपयोग हो सकता है, अिस बातकी शोधमें बड़े बड़े वैज्ञानिक दिनरात अेक कर रहे हैं। धनपति और राज्यतंत्र अिस बातकी जबरदस्त कोशिश कर रहे है कि अिन शोधोंका पहला लाभ अुन्हें मिले।

अिसमें शक नहीं कि ये सारी बातें महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी हैं। यह अनुकूल परिस्थितियाँ (environments और conditions) निर्माण करनेके प्रयत्नका ही अेक भाग है। मगर साथ ही यह भी याद रखनेकी ज़रूरत है कि अितना सब होते हुअे भी अगर प्रजामें योग्य प्रकारकी चरित्र-सम्पत्ति न हो, तो यह अंक रहित शून्य जैसा ही नहीं, बल्कि विनाशका कारण भी बन सकता है। अिसलिअे सिर्फ़ सम्पत्तिके पैदावार-बँटवारे आदिको ही ध्येय बनाकर अुसके अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करनेकी कोशिश नहीं होनी चाहिये, बल्कि सम्पत्तिकी पैदावार जिसका अेक नतीजा है अुस चरित्रधनको निर्माण करनेवाली परिस्थिति पैदा करनेका प्रयत्न होना चाहिये। अिसका खयाल न रखनेसे सम्भव है प्रत्यक्ष अनुभवमें सारे हिसाब — सारी गिनती गलत साबित हो।

लम्बी योजना' और छोटी योजना ये दो शब्द हम बहुत बार सुनते हैं। मगर लम्बी या छोटी योजनामें लम्बे समय और लम्बी दृष्टिकी तथा थोड़े समय और छोटी दृष्टिकी योजनाका फ़र्क़ हमें समझना चाहिये। दस वर्ष बाद देशमें भरपूर अनाज और कपड़ा हो जाय, अैसी दस वर्षकी योजना बनाअी जा सकती है और बनानी भी चाहिये। परन्तु अिससे अगर आनेवाले छह महीनों तक अन्न-वस्त्र बिलकुल न मिल सके, तो यह लम्बी योजना निरुपयोगी है और छह महीनोंका योग्य बन्दोबस्त न होनेसे ही निष्फल हो सकती है। अिसलिअे अुसके साथ छोटी — यानी अल्प-कालीन योजना भी चाहिये ही।

मगर लम्बे समयकी या थोड़े समयकी योजनाके पीछे यदि दृष्टि छोटी हो, तब भी सारी योजना धूलमें मिल सकती है।

जैसे बने तैसे जल्दी स्वराज हासिल करना चाहिये। अिच्छासे या अनिच्छासे अंग्रेजोंको भी लगा कि यह देना चाहिये। मगर किसी भी तरह मुस्लिम लीगको समझाया न जा सका। अुसने खूब धाँधली मचाअी। नतीजा यह हुआ कि अखंड हिन्दुस्तानके बारेमें जिनका आग्रह बहुत तीव्र था, अुन पंजाब और बंगालके हिन्दू-सिक्ख नेताओंने ही अपने अपने प्रान्तके हिस्से करने और पाकिस्तान दे देनेका छोटा रास्ता अख्तियार करनेकी अिच्छा प्रकट की। यह छोटा रास्ता तत्काल परिणाम देनेवाला होनेसे मुस्लिम लीगने अिसे मंजूर किया, हिन्दू-सिक्ख नेताओंने अिसकी माँग की और कांग्रेसको अुसे स्वीकार करना पड़ा। सबने तत्काल स्वराज्य स्थापनारूपी परिणाम देखा। मगर अुसके दूसरे परिणामोंकी कल्पना किसीके दिमागमें नहीं आयी।

अिस छोटे मार्गके पीछे रहनेवाली मूल कल्पना भी छोटी दृष्टिकी थी, संकुचित थी। मुस्लिम-गैरमुस्लिम द्वेष अिसके मूलमें था। अिसमें यह मान लिया गया था कि मुसलमान और गैरमुसलमान मिलकर अेक राज्य चला ही नहीं सकते। और अिसकी जड़में द्वेषका यही पानी अिरादतन सींचा गया था। यानी यह मान लिया गया था कि दो भाग हो जानेसे दोनोंको अपने अपने स्वतंत्र क्षेत्र मिल जायेंगे। मगर अिस परिणामकी किसीने कल्पना नहीं की कि जो मुसलमान-गैरमुसलमान मिल

कर अेक राज्य नहीं चला सकते, वे अेक गाँव या अेक शहरमें भी साथ साथ नहीं रह सकेंगे। द्वेषका नशा किये हुअे लोगोंने जब अुसे कर दिखाया, तब कहीं यह बात हमारी समझमें आयी। लोगोंने सहज स्वभावसे हिजरतका छोटा और आसान लगनेवाला रास्ता अख्तियार किया। राज्योंको लाचार होकर अुसका साक्षी और व्यवस्थापक बनना पड़ा। अिसका दुःखद अमल आज हो रहा है।

मगर यह माननेमें भूल होगी कि अिससे अिस समस्याका अन्त हो जायगा। क्योंकि जो मुसलमान और गैरमुसल्मान अेक गाँवमें साथ साथ नहीं रह सकते, अेक राज्य नहीं चला सकते, वे कमसे कम हिन्दुस्तानमें तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान बनाकर भी शान्तिसे नहीं रह सकेंगे। यह माननेका कोअी कारण नहीं है कि द्वेष दो बस्तियोंको अलग अलग करके ही रुक जायगा। अिसलिअे यह द्वेष अिस रूपमें फैलेगा कि या तो अिस पूरे देशमें सब मुसलमान ही मुसल्मान हों या सब गैरमुसल्मान ही रहें। अिसमेंसे बादमें अेक नया विश्वयुद्ध भी पैदा हो सकता है। अिस तरह सारे अेशिया और सारे जगतको अेक करनेका मनोरथ धूलमें मिल सकता है, और अेक तरफ दुनियाके सारे मुसलमान और कुछ दूसरे देश तथा दूसरी तरफ गैरमुसल्मानोंके बीच भयंकर यादवी जम सकती है।

जो योजना मुसल्मानों तथा गैरमुसल्मानों (हिन्दू, अीसाअी, सिक्ख, पारसी, यहूदी, चीनी आदि) को, अुनकी कम या ज़्यादा तादादके बावजूद अेक पड़ोसमें, अेक गाँवमें, अेक राज्यमें सबके साथ रहना सिखलावे, वही योजना, चाहे वह थोड़े समयकी (अल्पकालीन) हो, चाहे लम्बे समयकी (दीर्घकालीन), अिस समस्याका अन्त ला सकेगी। अगर कहीं मुसलमान लोग अलग रहकर अिस समस्याको अपनी ज़रूरतके मुताबिक हल कर सके होंगे, तो ये ही समस्यायें फिर हिन्दू, सिक्ख, पारसी, अीसाअी वगैराके बीच खड़ी होंगी। क्योंकि जो द्वेषभावना अिसके मूलमें है, वह अभी निकल थोड़े ही गअी है। और अगर मुसल्मान भी अिसे हल न कर सके, तो जिस तरह यूरोपके देश अीसाअी होते हुअे भी अेक दूसरेके साथ कुत्तोंकी तरह लड़ते हैं, अुसी तरह वे भी आपसमें लड़ेंगे।

क्योंकि द्वेषकी आगको जब बाहरकी खुराक मिलना बन्द हो जायगी, तब वह भीतरी भागको ही जलाने लगेगी।

पाकिस्तानके — बँटवारेके — पीछे रहनेवाली मूल भावना मनुष्य-मनुष्यके बीच अप्रेम-द्वेष पैदा करनेवाली, चरित्रको हीन बनानेवाली होनेसे, अुससे निकलनेवाली योजना अल्पकालीन हो चाहे दीर्घकालीन, वह बुरी ही रहेगी।

अिस चर्चाका हेतु अिस जगह तो सिर्फ़ अितना ही है कि योजना अल्पकालकी हो, तब भी वह अल्प दृष्टिकी नहीं होनी चाहिये; और अिस विषयमें सदा जागरूक रहना चाहिये कि चरित्रपर अुसका क्या असर होता है। योजनाओंका असर चरित्रपर कैसा प्रभाव डालता है, पाकिस्तान और बँटवारेका प्रयोग अिसका अेक जबरदस्त अुदाहरण है।

२–१०–’४७

४

धन बढ़ानेके साधन

देशकी आर्थिक हालतको मज़बूत बनानेके सम्बन्धमें आजके अलग अलग मतोंको माननेवालोंके बीच कोअी मतभेद नहीं है। गांधी-वादी दूसरे अुद्योगोंके सम्बन्धमें चाहे जितना अुदासीन रहे, मगर अनाज और दूसरे खाद्य पदार्थ, दूध, घी, कपड़ा, सुघड़ गाँव और घर, अच्छे रास्ते वगैराकी आजके मुकाबले कअी गुनी वृद्धि होनी चाहिये, अिस सम्बन्धमें वह अुदासीन नहीं है।

मतभेद होते हैं, धन बढ़ानेकी मर्यादा और रीतिके सम्बन्धमें। जीवनकी कितनी बातोंमें मनुष्यको स्वावलम्बी ही रहना चाहिये, कितनी बातोंमें अेक दूसरेपर ही निर्भर रहनेकी आदत डालनी चाहिये, किस हद तक ज़रूरतें घटानी या बढ़ानी चाहियें, पैदावार वगैराके तरीक़े कितने सादे और सस्ते होने चाहियें, या किस हद तक यांत्रिक अुलझनें स्वीकार

करनी चाहियें, जीवन कितना असुविधायें सहनेवाला या सहनशील होना चाहिये और कितना सहूलियत खोजी और आरामपसन्द होना चाहिये — अिन बातोंमें मतभेद होता है।

विचार करनेपर जान पड़ेगा कि अिन मतभेदोंके मूलमें यही दृष्टिभेद है कि मानव चरित्रके जुदे जुदे पहलुओंको कितना महत्त्व देना चाहिये। अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा नीति — भावनोत्कर्ष — (ethics) के सिद्धान्तोंके बारेमें ज्यादा अस्पष्टता है।

अेक बार मैंने अेक दुकानमें पीपरमेण्टके फूलकी बोतलें देखी थीं। पाव औंससे लगाकर दो औंस तककी बोतलें थीं। मगर मैंने देखा कि बाहरसे ये सारी बोतलें अेकसे कदकी और मुँह तक भरी हुआी दीखती थीं। कुतूहलवश जब मैंने बोतलोंको हाथमें लिया, तो मेरे देखनेमें आया कि वे कुछ कुछ नीचे जैसी थीं :
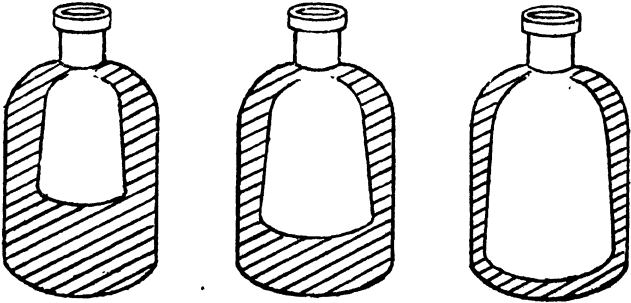
अिस तरह बोतलोंके शीशेकी मुटाअीके भेदसे बाहरसे अेकसी और मुँह तक भरी हुआी दिखते हुअे भी अुनमेंके फूलका प्रमाण कम-ज्यादा था। अिनमेंसे पहली बोतलकी दीवालको अगर भीतरसे घिसा जाय, तो वह दूसरी या तीसरीके बराबर मोटी हो सकती है, मगर फिर भी बाहरसे अुसके कदमें कोअी फ़र्क़ नहीं करना पड़ेगा।

मनुष्य कुछ हद तक अिन बोतलों जैसे हैं। सभी मानव प्राणी अेकसी बोतलोंमें भरे हुअे हैं। जिस तरह अूपरकी बोतलोंका सफेद, लाल,

पीला वग़ैरा होना अुनके भीतरकी चीज़को समानेके लिअे महत्त्वकी चीज़ नहीं, बल्कि अुनकी दीवालोंकी मुटाअी ही महत्त्वकी चीज़ है, अुसी तरह मनुष्यकी चमड़ीके या वह पूर्वमें पला है या पश्चिममें वग़ैरा बाहरी भेद अुसमें समाये हुअे गुणोंके सम्बन्धमें महत्त्वके नहीं है। महत्त्वकी चीज़ यह है कि अुसकी भावनाओं रूपी दीवालें स्थूल हैं या सूक्ष्म, संस्कारी हैं या असंस्कारी। जिस तरह बाहरसे अेक सी दिखाअी पड़नेवाली बोतलोंको अुनमें ज़्यादासे ज़्यादा माल समा सके अैसी बनानेके लिअे अन्दरकी दीवालोंको — बोतल टूट न पड़े और बहुत कमज़ोर न बन जाय अिस तरह सम्हालकर — घिसना चाहिये, अुसी तरह बाहरसे अेकसे लगनेवाले मनुष्योंको ज़्यादासे ज़्यादा कीमती बनानेके लिअे, अुनका शरीर टूट न पड़े और बहुत कमज़ोर न हो जाय अिस तरह सम्हालकर अुनकी नैतिक भावनाओंको सूक्ष्म बनाना मानवकी सारी योजनाओंका ध्येय होना चाहिये। जिस तरह बोतलको घिसनेके लिअे लेथ, जुदी जुदी जातिके और मापके घर्षक (abrasives) वग़ैरा साधन चाहिये, और हरअेक बोतलकी जांच करके अुसके लिअे योग्य रीतियों और साधनोंका अुपयोग करना चाहिये, अुसी तरह भावनाओंको संस्कारी बनानेके लिअे अलग अलग मनुष्योंके लिअे ही नहीं, बल्कि हरअेक मनुष्यके लिअे भी अलग अलग समयपर अलग अलग तरीके आज़माने पड़ेंगे। पूरी मानव जातिको हमेशाके लिअे अेक ही लकड़ीसे हांकनेके तरीकेसे काम नहीं चल सकता।

और अिसी मामलेमें हम भुलावेमें और विचारभेदोंमें पड़ते हैं। या तो हमारी कोशिश यह होती है कि सभी साधनोंका राजा कोअी अेक ही साधन ढूंढ निकाला जाय और अुसे सभी पर लागू किया जाय। यह कोशिश दो जगहोंके बीचके अन्तरको सेर और तोलेसे बताने या बुखारको फुटपट्टीसे नापनेकी प्रवृत्ति जैसी है।

या फिर हमारी यह समझनेकी भूल होती है कि चूंकि अनेक साधनोंकी ज़रूरत पड़ती है, अिसलिअे अिसमें व्यवस्था लानेकी कोशिश ही व्यर्थ है और हरअेक व्यक्तिका रास्ता स्वतंत्र ही होता है। यह अिस तरह कहने जैसा है कि चूंकि तौलके, वजनके, गरमी, वायु, बिजली वग़ैराके

मापके साधन और परिभाषायें अलग अलग होती हैं, अिसलिअे मापकी व्यवस्था ही नहीं की जा सकती।

अिसी तरह सभी मनुष्य सात्विक वृत्तिके या सभी राजस वृत्तिके या सभी तामस वृत्तिके हैं, अैसा समझकर केवल अुपदेश, केवल लोभ या केवल दंडके साधनोंपर ज़ोर देना, या सबके लिअे बिल्कुल सादे साधन या सबके लिअे अटपटे साधनोंकी योजना करना, या सभी मनुष्य मज़बूत व नीरोगी होते है अैसा समझकर या सभी रोगी और कमज़ोर होते हैं अैसा मानकर साधनोंकी योजना करना, या सिर्फ स्नायुओंके विकासको या सिर्फ़ कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियोंकी वेगपूर्ण या धीमी कार्यशक्तिको, या सिर्फ़ तार्किक या शोधक शक्तिको या सिर्फ़ श्रद्धाकी ही भावनाको महत्त्व देना या कोअी अेक ही अैसा साधन खोजना कि जो सारे अिष्ट परिणाम ला सके और अनिष्ट परिणामोंको टाल सके — वगैरा सारी कोशिशें भुलावेमें डालनेवाली है।

वादका मतलब है अेक दो स्लोगन (नारे) — अति व्यापक सूत्र — बनाना और फिर अुनमें खुद ही अुलझ जाना। चरखा सूत कातनेका साधन है, और हमारे देशकी मौजूदा परिस्थितिमें अुसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह अेक आर्थिक विधान है; और अिससे अुसके प्रचारके पीछे लगाअी जानेवाली ताक़तकी अुपयोगिता सब कोअी समझ सकते हैं। मगर जब हम यह समझने लगते हैं कि वह सत्य और अहिंसाका प्रतीक है, अुसे चलानेवाला व्यक्ति स्त्री और धन-दौलतके सम्बन्धमें चरित्रवान ही होगा, वह किसी दिन झूठ नहीं बोलेगा, छुआछूतको नहीं मानेगा, किसीका खून नहीं करेगा, चोरी नहीं करेगा, किसीको धोखा या दुःख नहीं देगा — वगैरा चरित्रशुद्धिका भी अपने **स्वरूपमें ही** साधन है, तब हम खुद ही अुसकी जालमें अुलझ जाते हैं। फिर हम कहने लगते हैं कि जिसका अहिंसामें विश्वास न हो, हिन्दू-मुस्लिम अेकतामें विश्वास न हो, सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरामें विश्वास न हो, जिसका चरित्र शुद्ध न हो, वह चरखा न चलाये। अिस तरह वस्त्रनिर्माणके साधनको चरित्रनिर्माणका भी सरल साधन बनानेकी कोशिशमें जब हमें सफलता नहीं मिलती, तब हम कहने लगते हैं कि वस्त्रनिर्माणके लिअे भी अुसका अुपयोग न किया जाय।

भक्तिमार्गी गुरुने कह दिया कि जप सारे साधनोंका राजा है मगर रातदिन ‘राम’ ‘राम’ करते रहनेपर भी कअी लोग बुरे कामोंमें फँसे हुअे देखनेमें आते हैं। यह देखकर बादमें जपकी व्याख्या करनी पड़ी है: कौनसा जप सच्चा, कौनसा झूठा, किस तरह अुसे किया जा सकता है, जप करते वक़्त कैसा भाव रखना चाहिये, कैसे अनुसंधान करना चाहिये, वग़ैरा। सब कोअी समझ सकें और अुसका आचरण कर सकें, अिस दृष्टिसे पहले पहल ‘जप’की योजना हुअी और अुसका प्रचार हुआ। मगर अितना अनियंत्रित जप बेकाम ही साबित हुआ। अिसलिअे अुसपर अैसी शर्त रखी गअी कि अेकाध तीव्र साधक ही जपका अधिकारी हो सकता है, दूसरोंके लिअे तो वह बकवास जैसा ही है। दरअसल जप अनेक साधनों — चरित्रकी योग्यताओं — को सिद्ध करनेमें मदद रूप होनेवाला अेक यौगिक साधन है। चूना अींटोंको जोड़ता है; मगर अींटोंके बिना केवल चूना क्या कर सकता है? ज़्यादासे ज़्यादा वह सूखकर चाकका पत्थर ही बन सकता है। यही हाल जपका है।

अिसी तरह चरखा वस्त्रनिर्माण तथा वस्त्र स्वावलम्बनका और अुतने अंशोंमें आर्थिक समृद्धिका अुपयोगी साधन है। अिसमें जपकी अपेक्षा यह विशेषता है कि जप दूसरी शर्तोंके बिना कोरी बकवास साबित हो सकता है, मगर यह हाल चरखेका नहीं है; वह कमसे कम वस्त्रनिर्माणका काम तो कर ही देगा। अिसके बाद प्रजामें दूसरे गुण पैदा करनेके लिअे दूसरी प्रवृत्तियों और साधनोंकी तो ज़रूरत रहेगी ही। हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि चरखा हो, तभी अहिंसा सिद्ध हो सकती है। यह भले कहा जा सकता है कि चरखेके बिना अहिंसक समाजरचना होना अगर अशक्य नहीं, तो मुश्किल ज़रूर है।

‘अहिंसा’ शब्दको भी हमने अपने ही हाथों अुलझनमें डालनेवाला शब्द बना दिया है। अुसमेंसे ‘सिद्धान्त’ और ‘नीति’, ‘बहादुरकी अहिंसा’ और ‘कायरकी अहिंसा’, ‘अहिंसक प्राणहरण’ और ‘हिंसक प्राणहरण’, ‘अहिंसक प्राणरक्षा’ और ‘हिंसक प्राणरक्षा’, ‘सत्य रहित अहिंसा’ और ‘सत्य सहित अहिंसा’, ‘अहिंसा और देशरक्षा या आत्म-रक्षा’, ‘अहिंसा और युद्ध’ आदि चर्चायें खड़ी हुअी है। अगर हम

अेक ही शब्दमें अगर सभी सुन्दर गुणों, वृत्तियों और कृतियोंका समावेश करनेका हम आग्रह न रखें और यह मान लेनेकी भूल न करें कि किसी अेकको सिद्ध करनेसे दूसरा सब अपने आप सिद्ध हो जाता है, बल्कि हरअेक शब्द या भावको अुसकी मर्यादामें रखकर ही समझें, तो अिनमेंसे बहुत-सी चर्चायें और मतभेद टल जायँ।

अर्थके अुत्पादन और वृद्धिके लिअे मनुष्यमें अमुक प्रकारका चरित्र — गुण और आदतें — होना चाहिये और अुसके सुख-संयम और न्याय-पूर्वक अुपयोग और अुपभोगके लिअे अमुक प्रकारका। मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंका अुद्देश्य भी अपनेमें सत् — अच्छे — मनुष्यके गुणों और आदतोंकी वृद्धि करना होना चाहिये। मगर कोअी अेक शब्द या कोअी अेक साधन सारे ज़रूरी गुणों और आदतोंको दिखलाकर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अेकांगी दृष्टिसे देखा जाय, तो परस्पर विरोधी दिखनेवाले साधन और गुण तथा आदतें भी ज़रूरी हो सकती हैं, और बहुत श्रेष्ठ लगनेवाले गुण भी विवेक और दूसरे गुणोंके अभावमें मनुष्यके शुभ विकासके लिअे बाधक हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि अेक वक़्त अेक गुण पर ज़ोर देनेकी ज़रूरत पड़े और दूसरे वक़्त दूसरे पर। अिसलिअे हमेशाके लिअे कोअी अेक रास्ता नहीं बनाया जा सकता। हर ज़मानेमें और हरअेक समाजमें नेताओंको सावधानी और विवेकसे अपने समयकी ज़रूरतके मुताबिक ही मर्यादायें निश्चित करनी चाहियें और अुन्हें अिस तरह नहीं जकड़ देना चाहिये कि भविष्यकी प्रजाको अुन्हें बदलनेमें मुश्किल मालूम हो।

चरित्र समृद्धिका साधन है, और समृद्धिका साध्य अुन्नत चरित्र ही है, अिस सत्यको बराबर स्वीकार न करनेसे ही आजका विज्ञान-सम्पन्न मानव-समाज अिस तरह दुनियामें घूम रहा है, मानो हाथमें आग लगानेके साधन रखनेवाले और अुसकी कला सीखे हुअे वानर-समाजको खुला छोड़ दिया गया हो। अिसलिअे अर्थवृद्धिके साधनोंपर विचार करते वक़्त आदि, मध्य तथा अन्त तीनों अवस्थाओंमें चरित्रके अंगोंका विचार करके ही क़दम अुठाने चाहियें।

१७-१०-'४७

५

चारित्रके स्थिर और अस्थिर अंग

मनुष्यको अपनी खुदकी ओर देखनेकी दृष्टिमें साफ़ होनेकी ज़रूरत है। वह दूसरे प्राणियोंकी तरह अेकाध निश्चित और सरल दिशामें ही विकसित बुद्धिवाला प्राणी नहीं है। अिसी तरह वह अनन्त प्रज्ञा–बुद्धि–वाला होते हुअे भी पूर्णप्रज्ञ नहीं है। अुसे दूसरे प्राणियोंकी तरह अेकप्रज्ञ नहीं बनाया जा सकता। वह अनन्तप्रज्ञ होनेकी कोशिश करता ही रहेगा। यानी सभी मनुष्योंकी अेकसी ही बुद्धि नहीं हो सकती। सब अलग-अलग तरहकी बुद्धिवाले ही रहेंगे। अितना ही नहीं, बल्कि किसी व्यक्तिका भी बिल्कुल अेकप्रज्ञ होना संभव नहीं है। अेकाध दिशामें किसी व्यक्तिकी बुद्धि अपनी आखिरी सीमा तक भले पहुँच जाय, मगर यह संभव नहीं कि दूसरी दिशाओंमें अुसका बिल्कुल ही विकास न हो। और सिर्फ़ अेक ही दिशामें विकसित बुद्धिसे कोअी अिच्छित पूर्णता नहीं पा सकता, न कृतार्थताका अनुभव ही कर सकता। साथ ही किसी भी व्यक्तिका पूर्ण और अनतप्रज्ञ होना सम्भव नहीं है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अैसा बननेकी असफल महत्त्वाकांक्षा रखें, मगर पूरी मानव जातिका पूर्ण और अनंतप्रज्ञ होना सम्भव नहीं है। यानी अगर बुद्धिको मनुष्यकी छठी अिन्द्रिय माना जाय, तो वह अिन्द्रिय अेक अैसी जातिके अनंत और सूक्ष्म स्नायुओं और ज्ञानतन्तुओं रूपी पंखुड़ियोंसे बनी हुअी है कि जिसकी जुदी-जुदी पंखुड़ियाँ थोड़ी-बहुत खिली हुअी हैं, थोड़ी बहुत मुरझाअी हुअी हैं, सब अभी खिली ही नहीं, और सभीका किसी अेक वक़्तमें खिली हुअी स्थितिमें दिखाअी पड़ना सम्भव नहीं है।

अेक दूसरा दृष्टांत लेकर अिसपर विचार करें, तो मनुष्य समाज किसी अनजान जंगलमें छोड़े हुअे अंधे और बहरे मनुष्यों जैसा है। वह हाथसे छूकर रास्ता ढूँढना, दोस्तों और दुश्मनोंको पहचानना और अच्छे-बुरे साधन और स्थान निश्चित करना चाहता है। सबके अनुभव

अलग-अलग है। कुछने अपना जीवन अमुक साधनों और स्थानोंमें स्थिर कर लिया है, कुछको अुतनेमें अच्छा नहीं लगता या अुन्हें अभी वैसी अनुकूलताअें नहीं मिलीं। कुछका जीवन दूसरोंपर विश्वास और प्रेम रखनेसे सुखपूर्वक बीता है, तो कुछका अिन्हीं कारणोंसे दुःखमय रहा है। कुछने दूसरोंके प्रति अविश्वास रखनेमें ही अपनी सफलता देखी है, तो कुछने अिसी वजहसे ठोकर खाअी है। कुछके लिअे अपने हाथ-पाँवोंकी शक्ति ही मददगार साबित हुअी है, तो कुछको अपने तर्क, बुद्धि या वाणीकी शक्तिसे मदद मिली है। कुछने डर डरकर चलनेमें अपनेको सुरक्षित माना है; तो कुछने साहसकी बदौलत ही अपनेको आगे बढ़ा हुआ पाया है। अपने-अपने थोड़े अनुभवसे हरअेकने व्यापक सिद्धान्त निकाले है।

फिर भी अिसमें अेक किस्मकी व्यवस्था है। हरअेकका अनुभव थोड़ा होते हुअे भी अुसको अपने अनुभवका समर्थन करनेवाले मिल जाते है। अिससे साबित होता है कि अिन अनुभवोंको कुछ वर्गोंमें बाँटा जा सकता है और हरअेक वर्गके अनुभवोंमें कुछ विचारने और ग्रहण करने लायक अंश होता है। लेकिन कोअी अेक अनुभव न तो सबसे श्रेष्ठ होता, न सर्वथा छोड़ने लायक ही होता है। दूसरे, यह भी कहा जा सकता है कि जुदी-जुदी कोटिके या परिस्थितिके लोगोंके लिअे किसी अेक वर्गका अनुभव दूसरोंके मुक़ाबले ज़्यादा योग्य साबित हो सकता है तथा अमुक परिस्थितिमें किसी अेकको महत्ता ज़्यादा और दूसरेकी कम हो सकती है।

अिस तरह देखनेपर यह कहा जा सकता है कि नीचे लिखी हुअी योग्यताअें मामूली तौरपर हरअेक पूर्णांग मनुष्यमें हमेशा होनी चाहिये, और अिनमेंसे दो-चार हरअेकमें विशेष रूपसे होनी चाहिये; तथा विशेष परिस्थितिमें कुछ योग्यताअें बहुत बड़ी तादादके मनुष्योंमें होनी चाहिये।

शारीरिक

१. नीरोगी और पूरी तरहसे विकसित शरीर।
२. मेहनत करनेकी शक्ति और आदत।
३. सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास वग़ैरा सहनेकी शक्ति और आदत।

४. ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके कामोंको स्वतंत्रतासे और व्यवस्थित तरीक़ेसे करनेकी जानकारी और आदत।

५. स्फूर्ति और तेज़ी रहते हुअे भी व्यवस्थितता और नियमन।

मानसिक

१. साहस — खतरेका सामना करनेका स्वाभाविक हौसला और हिम्मत।

२. धीरज — खतरेमें घबरा न जानेकी (panicky न होनेकी) ताक़त।

३. समयसूचकता — परिस्थितिका मुक़ाबला करनेकी सूझ।

४. श्रमानंद — ज़बरदस्त मेहनतके वक़्त कामसे अरुचि होनेके बजाय अुमंग बढ़ना।

५. पक्की-पकड़ — पकड़ी हुअी चीज़को आसानीसे न छोड़ने, बल्कि मज़बूतीसे पकड़े रहनेका स्वभाव।

६. तेज अथवा स्वाभिमान — दूसरेकी धमकी, लाल आँखें वग़ैरासे दब न जानेकी ताक़त।

७. आत्मनियमन — काम, क्रोधके वेगोंको रोकनेकी शक्ति।

८. हमेशा प्रगति करते रहनेकी अभिलाषा।

९. सावधानी।

बौद्धिक

१. जिज्ञासा और शोधवृत्ति।

२. अवलोकन, निरीक्षण और प्रयोग करनेकी आदत।

३. अनुभव और कल्पना, वस्तुधर्म और आरोपितधर्म, आदर्श और महत्त्वाकांक्षा तथा हवाअी किले बाँधने, वास्तविकता और अभिलाषाके बीच भेद करनेकी शक्ति।

४. गणित और आकलन।

५. स्मृति और जाग्रति।

६. चींटीवृत्ति — जहाँसे मिले वहाँसे चींटीकी तरह छोटे और नम्र बनकर ज्ञानसंग्रह करनेकी वृत्ति।

७. अतिव्याप्ति[1] तथा अत्युक्ति[2] न करनेकी आदत।

८. पूर्वग्रहों[3] और साम्प्रदायिकतासे या किसी पक्षसे अूपर अुठकर विचार करनेकी शक्ति।

चारित्रिक

१. विवेकपूर्ण श्रद्धा।

२. प्राणीमात्रका आदर।

३. समभाव, करुणा, दया आदि।

४. स्वजनोंके प्रति अैसा प्रेम जिसमें दूसरोंका द्रोह या अुनके प्रति अन्याय न हो।

५. विवेकपूर्ण परोपकार, क्षमा आदि।

६. अजनबी और स्वजन-विरोधियोंसे सावधान रहते हुअे भी अुनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करना।

७. चैतन्यकी अपेक्षा जड़ पदार्थोंकी कम क़ीमत करना।

८. धनके व्यवहारमें प्रामाणिकता, स्वच्छता, सत्य प्रतिज्ञता, धोखा न देना, अज्ञान, गरज़मन्द या गरीबकी मुश्किलोंसे फ़ायदा न अुठाना आदि।

९. स्त्रीकी जिन्दगी, प्रतिष्ठा और शीलकी अपने प्राणोंपर खेलकर भी रक्षा करना।

१०. अव्यभिचार तथा अनत्याचार

११. अीश्वरनिष्ठा — यानी सारी कोशिशों और पुरुषार्थके बावजूद अिस बातको ध्यानमें रखना कि अिच्छित फल देना सिर्फ़ भगवानके ही हाथमें है और अिस सत्यको स्वीकार करते हुअे भी जगतके लिअे नम्रता-पूर्वक मंगलकामना करना, अुस मंगलकामनामें श्रद्धा रखना और अुसके लिअे आशासहित लगातार कोशिश करना।

१२. स्वच्छता, व्यवस्था और सादगीकी सुन्दरता।

१३. रोग, गरीबी, अन्याय, स्थूल तथा सूक्ष्म मलिनता और हिंसाको दूर करनेके लिअे अुद्यम करना।

---

१ लक्ष्यसे बाहरकी वस्तुके विषयमें कहना।

२ बातको बढ़ाचढ़ाकर कहना।

३ पहलेसे ही बने हुअे मत।

१४. समाजके हितके लिअे अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, ममताओं वगैराको गौण करने और अनेकोंके साथ सहयोग करनेकी तत्परता। फिर भी,

१५. अन्याय और असत्यके खिलाफ़ और सत्यके लिअे पूरी दुनियाका अकेले मुक़ाबला करनेकी हिम्मत।

ध्येयात्मक या श्रद्धात्मक

१. असत्यमेंसे सत्य, हिंसामेंसे अहिंसा, दैन्यमेंसे अैश्वर्य, आसक्तिमेंसे वैराग्य, अज्ञानमेंसे ज्ञान, अव्यवस्थामेंसे व्यवस्था, विषमता और अन्यायमेंसे समता और न्याय, अधर्ममेंसे धर्मकी ओर लगातार बढ़ना तथा अपनी और समाजकी पूर्ण मानवताका विकास करना।

२. पूरी मानव जातिकी अेकताको स्वीकार करना और अुसे सिद्ध करनेकी कोशिश करना।

३. जीवनके मूल सत्यको खोजने और समझनेका पुरुषार्थ।

अिस सूचीको सम्पूर्ण नहीं मानना चाहिये। अिसमें सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, संतोष, भावना, श्रद्धा, अुपासना, आत्मरक्षा, फौजी तालीम, धन्धा, कला वग़ैरा-वग़ैरा रूढ़ शब्द नहीं हैं, बल्कि वर्णनात्मक शब्दोंका अुपयोग किया गया है, जिससे योग्यताओंका निश्चित स्वरूप समझमें आ सके और अुनकी ज़रूरतोंके बारेमें विचार किया जा सके। इन बातोंका आर्थिक क्रान्तिके सवालोंमें इसलिअे समावेश किया गया है कि अिस बुनियादके बिना कोअी भी आर्थिक योजना सिद्ध ही नहीं हो सकेगी। आर्थिक योजनाओं और अलग-अलग वादोंकी रचना करते वक़्त यह मान कर चला जाता है कि यह सब तो मनुष्यमें है ही। मगर थोड़ा विचार करनेपर मालूम होगा कि हमारी प्रजामें या जगतमें यह सब है ही, अैसा मान लेनेका कोअी आधार नहीं है। अिस पर यही टीका काफ़ी नहीं होगी कि **नाऽस्ति मूलं कुतः शाखा** (मूल नहीं तो शाखा कहाँसे?), बल्कि यह कहना होगा कि **सन्मूलस्याभावात् प्रसृता विषवल्लयः** (अच्छे मूलके अभावमें विषकी लतायें ही फैली हैं)।

२०-१०-'४७

६

वादोंकी अुलझन

आज हम सब अलग-अलग वादोंकी अुलझनमें फँसे हुअे है। पूँजीवाद, गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, यंत्रीकरण, राष्ट्रीयकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, बड़े अुद्योग, ग्रामोद्योग, यंत्रोद्योग, दस्तकारी, बलवान केन्द्र, ग्राम स्वराज्य, मज़दूर राज्य, किसान राज्य, डेमॉक्रेसी, ऑटोक्रेसी वग़ैरामें से अेकाध शब्दको हम पकड़ लेते हैं और अपनी सारी चर्चायें यह मानकर करते हैं कि अैसे किसी अेक वादके मुताबिक सारा कारबार जमा देनेसे जीवनकी सच्ची और अच्छी व्यवस्था हो जायगी; मगर मानव जीवन अैसा फिसलनेवाला है कि किसी अेक व्यवस्थाकी पकड़में वह आ ही नहीं सकता, या अगर ज़बर्दस्तीसे अुसे पकड़ा भी जाय तो वह सड़ने लगता है और मनुष्यको सुखी और तन्दुरुस्त बनानेके बदले अुसे आपत्तिमें डालता है।

मगर अिसके अलावा हमें अेक महत्त्वकी बात पर विचार करना है। ये सभी वाद अेक दूसरेसे बिल्कुल जुदे ढंगके दिखते हुअे भी अेक ही बुनियादको मज़बूत बनाकर या समझकर खड़े हुअे है। सभीकी रचना धन-गणित—सोनेके तौल-गणित—के आधारपर हुआी है। आज भले ही सोनेके सिक्कोंका चलन कहीं भी न हो, मगर अर्थविनिमयका साधन—वाहन और माप—अुसके पीछे रहनेवाले सोने-चाँदीके संग्रह पर ही है। साम्यवादी भले ही मज़दूरको महत्त्व दे, पूँजीपतिको निकालनेकी कोशिश करे, मगर वह भी पूँजीको—यानी सोने-चाँदीके आधारको और गणितको ही—महत्त्व देता है। आर्थिक समृद्धिका माप सोनेकी बनी हुआी फुटपट्टी ही है। अिस फुटपट्टीके पीछे रहनेवाली सामान्य समझ यह है कि जो चीज़ हर किसीको आसानीसे न मिल सके, वही अुत्तम धन है।

पूँजीवादका मतलब है अैसी चीज़पर खानगी कब्जा रखनेमें श्रद्धा, तथा साम्यवाद या समाजवादका अर्थ है अैसी चीज़पर सरकारका कब्जा

रखनेमें श्रद्धा। जो चीज़ हर किसीको आसानीसे मिल सकती हो, वह जीवन-निर्वाहके लिअे चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण होनेपर भी हलके दरजेका धन समझी जाती है। अिस तरह हवाकी अपेक्षा पानी, पानीकी अपेक्षा खाद्य व अुनकी अपेक्षा कपास, तम्बाकू, चाय, लोहा, ताँबा, सोना, पेट्रोल, युरेनियम वगैरा अुत्तरोत्तर ज़्यादा अूँचे प्रकारके धन माने जाते हैं। अिस तरह जो चीज़ जीवनके लिअे क़ीमती और अनिवार्य हो, अुसकी अर्थशास्त्रमें क़ीमत कम, और जिसके बिना जीवन निभ सके, अुसकी अर्थशास्त्रमें क़ीमत ज़्यादा है। यों जीवन और अर्थशास्त्रका विरोध है।

अगर कोअी क्रान्ति होना ज़रूरी हो, तो जिस तरह धार्मिक वगैरा मान्यताओंके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है, अुसी तरह अिस विषयमें भी विचारोंकी क्रान्ति होना ज़रूरी है। कुछ अैसा अर्थमापका साधन खोजना चाहिये, जो जीवनके लिअे अुपयोगी और सबको आसानीसे मिल सकने वाली चीज़ों और शक्तियोंको क़ीमती ठहरावे, तथा अुनके अभावको दरिद्रता समझे।

अर्थशास्त्रकी दूसरी विलक्षणता यह है कि मज़दूरीका समयके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें अुसके साधन अथवा यंत्रका कोअी ध्यान ही नहीं रखा जाता। अुदाहरणके लिअे, समान वस्तु बनानेमें अेक साधनसे पाँच घंटे लगते हैं और दूसरेसे दो, तो दूसरा साधन काममें लेनेवालेको ज़्यादा क़ीमत मिलती है; फिर भले ही पहलेने खुद मेहनत करके वह चीज़ बनाअी हो और दूसरेको अुसे बनानेमें यंत्रको दबानेके सिवा और कुछ न करना पड़ा हो। अिसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रमें समयकी क़ीमत नहीं है, मगर समयकी बचत करनेपर अिनाम मिलता है, और समय बिगाड़नेपर जुरमाना होता है। मगर अिसमें किस तरह समय बचा या बिगड़ा, अिस बातकी परवाह नहीं की जाती।

सच पूछा जाय तो जिस तरह साधन अच्छा हो, तो समयकी बचत होती है, अुसी तरह अगर कुशलता, अुद्यमशीलता, वगैरा यानी मज़दूरीकी गुणमत्ता ज़्यादा हो, तब भी समयकी बचत होती है। और अगर साधन तथा गुणमत्ता अेकसे हों, तो वस्तुकी क़ीमत अुसे बनानेमें लगे हुअे समयके प्रमाणमें आँकी जानी चाहिये। अेकसे ही यंत्र पर अेक

व्यक्ति अेकसी गुणमत्ताका अुपयोग करके कोअी चीज़ बनावे, तो अुसे दो घंटे लगते हैं। अिसकी अपेक्षा अगर वह अढ़ाअी घंटे खर्च करके कोअी चीज़ तैयार करता है, तो वह पहलीसे ज़्यादा कीमती बननी चाहिये। साधन तथा गुणमत्ताकी विशेषता अुस चीज़में अुतरनी चाहिये। अिस तरह किसी चीज़के बनानेमें जितना ज़्यादा समय, जितने अच्छे साधन और जितनी ज़्यादा गुणमत्ताका अुपयोग किया गया हो, अुतनी ही ज़्यादा अुसकी क़ीमत होनी चाहिये। दरअसल मूल क़ीमत तो अिसी तरहकी होती है। मगर आजकी अर्थव्यवस्थामें माल तैयार करनेवालेको अिस हिसाबसे कीमत नहीं मिलती। अिससे समय और गुणमत्ताको बचानेवाले साधनोंपर ही सारा ज़ोर दिया जाता है। या कहिये कि समयके अुपयोगपर भारी जुरमाना होता है और गुणकी कीमत कंजूसीसे आँकी जाती है।

गणितकी भाषामें पेश की गअी अिन सारी बातोंको सोलह आने गणितके ही रूपमें नहीं लेना चाहिये। अिसका हेतु सिर्फ़ अितना ही दिखाना है कि सोना, चाँदी वगैरा विरल पदार्थोंके आधारपर रची हुअी कीमत आँकनेकी पद्धतिसे वस्तुओंकी सच्ची कीमत नहीं आँकी जा सकती। और अिसलिअे अुसके आधारपर बनी हुअी अर्थ-व्यवस्था, चाहे जिस वादके आधारपर खड़ी की गअी हो, अनर्थ पैदा करनेवाली ही साबित होती है और आगे भी होती रहेगी।

कुदरत सार्वजनिक है। अिसलिअे अुसकी क़ीमत ही नहीं होनी चाहिये। ज़मीन या खाद्य पदार्थ हवाकी तरह ही कुदरतकी बख्शिशें हैं। अिनकी विपुलता या कमीसे क़ीमतमें फ़र्क़ पड़नेका कोअी कारण नहीं है।

अिसके सिवा, आजकी हमारी धन और क़ीमत मापनेकी पद्धति देखनेमें भले सव्य — लाभमापक (positive) हो, मगर दरअसल वह अपसव्य — हानिमापक (negative) है। आजकल अगर किसी गलीमें दंगा हुआ हो, तो वहाँ रहनेवाले लोगोंपर सामूहिक जुरमाना किया जाता है। अगर दो गलियोंमें दंगे हुअे हों और अेक पर पच्चीस हज़ारका तथा दूसरे पर दस हज़ारका जुरमाना किया जाय, तो सरकारी बहीमें पहली गलीवालेके खाते पच्चीस हज़ार रुपये जमा किये जायँगे और दूसरीके खाते

दस हज़ार। अिसपरसे सरकार पहली गलीको ज़्यादा लाभदायक मानेगी और दूसरीको कम। और अिसलिअे अगर वह पहलीके लिअे ज़्यादा सन्तोष माने, तो अेक तरहसे यह सीधी बात जान पड़ती है। मगर दूसरी ओर सच्ची दृष्टिसे देखें, तो यह पन्द्रह हज़ारका अधिक लाभ संतोषकी नहीं, बल्कि खेदकी बात है। क्योंकि सरकारका हेतु दंगोंको रोकना है, दंगोंके जुरमाने वसूल करनेका धन्धा चलाना नहीं। अिस हेतुकी सिद्धिके लिअे अैसी स्थिति पैदा करनी ज़रूरी है, जिससे किसीपर जुरमाना न करना पड़े, व दंगे ही न हों *।

या नीतिमें थोड़ा फेरफार करके सरकार अैसा नियम बनावे कि जो गलियाँ सालभर तक शान्ति बनाये रखें, अुन्हें अमुक हिसाबसे करमें छूट दी जाय, और जहाँ दंगे हों वहाँसे पूरा कर वसूल किया जाय। अिस तरह सम्भव है कुछ गलिवाले लोग अच्छे अिनाम लें ले और अिससे सरकारका कर कम वसूल हो। अूपरसे देखनेमें यह नुकसानकी बात मानी जायगी। लेकिन दूसरी तरफ चूँकि सरकारका मकसद दंगे रोकनेका है, अिसलिअे करमें अमुक हिसाबसे छूट देनेसे लाभ होगा। शान्तिकी दृष्टिसे सजाकी जमा रकम अपसव्य — हानिमापक संख्या है और करमें छूट सव्य — लाभमापक संख्या है।

अिसी तरह हम क़ीमतके सवालपर विचार करें। मान लीजिये हम कहते हैं कि मिलका कपड़ा हमें अेक रुपये गज़में पुसाता है और वैसी ही खादी दो रुपये गज़में। और अिस हिसाबसे मिलके अेक गज़ कपड़ेकी कीमत अेक रुपया माँडते हैं और खादीकी दो रुपया। अब अेक गज़ कपड़ा तो अेक गज़ कपड़ा ही है: फिर वह चाहे मिलमें बना हो, चाहे खादीका हो। जीवनकी ज़रूरत तो दोनोंसे अेकसी ही पूरी होती है; अिससे जीवनके लिअे दोनोंकी क़ीमत अेकसी है। मान लीजिये कि अेक आदमीको अुसकी

* जुरमानेके सम्बन्धमें यह कथन शायद आसानीसे मंजूर कर लिया जाय, और यह कहा जाय कि अैसा कोअी नहीं समझता। मगर शराब वग़ैरापर होनेवाली आमदनीके सम्बन्धमें अैसी भावना है या नहीं, अिसपर विचार करना चाहिये।

बंडी छह महीनों तक लगातार काम देती है। यानी अुसकी सच्ची क़ीमत छह माहकी है। फिर भी अुसकी अलग-अलग कीमतें मॉडनेका मतलब यह हुआ कि यंत्रमें छह महीनेका किराया अेक रुपया होता है, और हाथ औजारमें दो रुपये। अगर छह महीनेका किराया अेक रुपया वाजिब हो, तो खादीके दो रुपये लेकर आप खादी पहननेवालेपर अेक क़िस्मका जुरमाना करते हैं, या दो रुपये देकर खादी बनानेवालेको अिनाम देते है। और अगर छह महीनेकी कीमत दो रुपये वाजिब हो, तो मिलके कपड़ेके लिअे अेक रुपया देकर आप मिलवाले पर जुरमाना करते हैं, या मिलका कपड़ा अेक रुपयेमें बेचकर अुसका अुपयोग करनेवालेको अिनाम देते हैं। अिस तरह लागत क़ीमतके हिसाब पर से वस्तुकी क़ीमत आँकने जायँ, तो अुसकी सच्ची क़ीमत जाननेका कोअी ठीक-ठीक साधन ही नहीं मिलता।

अिसके सिवा अेक दूसरी तरहसे मौजूदा अर्थ-व्यवस्थाकी अनर्थता पर विचार करें। नैतिक न्यायकी दृष्टिसे देखें, तो जिन चीज़ोंके बिना जीवन ही न चल सकता हो, और अिसलिअे जिनके अुत्पादनमें ही ज़्यादासे ज़्यादा मनुष्योंका लगाना ज़रूरी हो, अुनमें लगे हुअे लोगोंकी मेहनतकी सबसे ज़्यादा कीमत होनी चाहिये। मनुष्यकी मेहनतमें से क्या निर्माण होता है, और वह जीवनके लिअे कितना ज़रूरी है, अिसका खयाल रखकर ही अुसका मेहनताना निश्चित किया जाना चाहिये। अिस तरह देखा जाय, तो अिसमें ज़रा भी शक नहीं कि ज़्यादासे ज़्यादा मनुष्योंको अनाज पैदा करनेके काममें ही लगाना चाहिये। बाकीके सारे कामोंका स्थान अिससे गौण रखा जाय। अिसलिअे ज़्यादासे ज़्यादा मेहनताना अनाज पैदा करनेकी सीधी मज़दूरी करनेवालेको मिलना चाहिये। शेष सारे धंधे अिससे अुतरती पंक्तिके माने जाने चाहियें। अनाज पैदा करनेवालोंके बाद दूसरा नम्बर शायद घर और कपड़े बनानेवालों तथा भंगी वगैरा सफाअी करनेवालोंका माना जा सकता है। जिस धन्धेके ज्ञान या मददके बिना दूसरे धन्धे करनेवालोंकी सारी विद्या–कला बेकाम हो जाती हो, वह धन्धा आर्थिक दृष्टिसे सबसे कीमती माना जाना चाहिये।

मगर हम जानते हैं कि आजकी अर्थ-व्यवस्थामें अैसा नहीं होता। सबसे ज़्यादा मेहनताना राजा, वज़ीर, सेनापति, फौज, पुलिस, न्यायाधीश, वकील, वैद्य, बड़े अध्यापक, माहिर, फैशन सर्जक* वगैराको दिया जाता है, और जीवनमें जिसकी कम-से-कम ज़रूरत पड़ती है, अुसे ज़्यादासे ज़्यादा मेहनताना मिलता है।

अैसा होनेका अेक कारण यह है कि अज्ञान लोगोंमें जिस तरह भूत-प्रेत अथवा देवी-देवताओंके विषयमें वहम फैले हुअे हैं और अुनकी पढ़े-लिखे लोग हँसी अुड़ाते हैं, अुसी तरह हमारे सभ्य समाजियों (बुर्जुआ लोगों) में राज्य-व्यवस्था और सुलह-शान्ति बनाये रखनेवालों तथा ज्ञान देने वालों वगैराके सम्बन्धमें वहम हैं। जिस श्रद्धासे अज्ञानी लोग भूत-प्रेत या देवी-देवताओंको रिझानेके लिअे मुर्गे, बकरे या पाड़ेकी बलि चढ़ाते हैं, अुसी श्रद्धासे हम राजा-महाराजा और राजपुरुषोंको रिझाने के लिअे अुन्हें खूब मेहनताना देते हैं, अुनके दरबार भरते हैं और जुलूस निकालते हैं। जिस तरह मनुष्य अपने ही हाथों गढ़ी हुअी या चित्रित की हुअी देव-मूर्तिको पूजकर या प्रणाम करके कहता है कि हे भगवन्, तू हमारा कर्ता और भर्ता है, अुसी तरह वह अपनी मददसे खड़े किये हुअे राजपुरुषोंको पूजकर या प्रणाम करके कहता है कि आप हमारे राष्ट्रके स्वामी और पालक हैं। मगर अनुभव तो यह बतलाता है कि राजपुरुषों के कारण जितनी खून-खराबी, अव्यवस्था, अन्याय, लूट-मार, झुठाअी वगैरा होती है, अुतनी किसी प्रकारकी व्यवस्थित राजसत्ताकी गैरहाज़िरीमें शायद न हो।

मगर अब मानव समाज अैसी स्थितिमें है कि व्यवस्थित राजसत्ताको बनाये रखनेके सिवा अुसके लिअे दूसरा कोअी रास्ता नहीं है। अिसलिअे वह भले रहे, मगर अिसका यह मतलब नहीं कि अुस काममें लगे हुअे लोगोंकी आर्थिक कीमत भी ज़्यादा आँकनी चाहिये। अैसा भी अेक ज़माना था, जब अैसा नहीं होता था। आज अिनकी आर्थिक कीमत ज़्यादा

* नोट — फैशन सर्जक शब्दको "कला सर्जकसे" भिन्न मानकर अुसका यहाँ अुपयोग करता हूँ। सच्चे कला सर्जकका मेहनताना तो अक्सर कम होता है; अुसकी प्रतिष्ठा भले हो।

आँकनेका अेक कारण यह है कि धन और प्रतिष्ठाका हमने अैसा समीकरण किया है कि जितना धन, अुतनी ही प्रतिष्ठा। अथवा हम अैसा मानने लगे हैं कि जिसकी प्रतिष्ठा बढ़ानी हो, अुसका मेहनताना भी बढ़ाना चाहिये। हमने '**सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते**' वाले नीतिवाक्य को अपने जीवनमें स्वीकृति दे दी है।

प्रतिष्ठा अनेक कारणोंसे हो सकती है और दी जा सकती है। अुसे मान्य करनेके दूसरे चाहे जितने तरीक़े हों, मगर पैसोंके अिनाम द्वारा वह नहीं की जानी चाहिये। बूढ़े व्यक्तिको अुसकी अुम्रके लिअे, स्त्रीको अुसके मातृत्व, कोमलता और शीलके लिअे, बालकको अुसकी निर्दोषता और मधुरताके लिअे, ज्ञानीको अुसके ज्ञानके लिअे, सिपाहीको अुसकी बहादुरीके लिअे, राजपुरुषको अुसके नेतृत्व और कर्तृत्वके लिअे, सन्तको अुसके चरित्रके लिअे और अधिकारीको व्यवस्था बनाये रखनेमें मददरूप होनेके लिअे अगर प्रतिष्ठा मिले, तो अिसमें कोअी दोष नहीं है। मगर पैसे देकर अिस प्रतिष्ठाकी कदर नहीं की जानी चाहिये। आप अुन्हें आदर दीजिये, सबसे आगे जगह दीजिये, अूँचा स्थान दीजिये, ठीक लगे अुस तरह नमस्कार या प्रणाम कीजिये, फूलमाला और सिरपेंच दीजिये, जरूरी हो तो खिताब या पदवियाँ भी दीजिये; मगर अुसके लिअे अुन्हें ज़्यादा मेहनताना या सोने-चाँदीकी या क़ीमती चीज़ें या धन अिकट्ठा करनेकी सहूलियतें देनेकी ज़रूरत नहीं है। अगर अलग-अलग कामोंके लिअे अलग-अलग मेहनताना हो, तो सबसे ज़्यादा मेहनताना अनाजकी खेती करनेवाले या जलकी खेती करनेवालेको मिलना चाहिये। राजाकी भी अेक दिनकी मज़दूरी खेतीके मज़दूरकी अपेक्षा कम होनी चाहिये। फिर भले अुसके कामके लिअे अुसे देशकी स्थितिके मुताबिक मर्यादित सहूलियतें दी जायँ।

७

फुरसतवाद

पिछले प्रकरणमें 'समयकी बचतपर अिनाम' या 'समय बिगाड़नेपर जुरमाना' जैसी परिभाषाओंमें चीज़ोंकी कीमत आँकनेकी मौजूदा पद्धतिका अेक खुलासा पेश किया गया है। मगर सच पूछा जाय, तो अिस तरह स्पष्टता करनेमें ही ग़लत विचारदान होता है। हक़ीक़त तो यह है कि गांधीवाद और दूसरे वादोंमें अगर स्वर्णके आधारपर रची हुअी वस्तुओं की क़ीमत आँकनेकी पद्धतिके सम्बन्धमें समानता है, तो अेक विषयमें विरोध भी है। वह यह कि दूसरे सब वाद फुरसतवादी हैं; अुनके अनुसार अिन्सानको ज़्यादासे ज़्यादा फ़ुरसत दी जानी चाहिये। कहा जा सकता है कि मौजूदा अर्थशास्त्रकी बुनियादी श्रद्धा यह है कि विद्या, कला, वग़ैराका— 'संस्कृति' का — कारणशरीर या मूल साधन फुरसत है। गांधीवाद प्रतिक्रियाके रूपमें शायद अिसके दूसरे छोरपर चला गया है, और वह फ़ुरसतको लगभग मानव-हितकी दुश्मन ही समझता है।

हक़ीकत यह है कि फ़ुरसत शब्दमें आलस्य और विश्राम दोनोंका समावेश होता है। यहाँ मेहनतके बाद विश्राम करनेकी ज़रूरतके सम्बन्धमें विवाद करना बेकार है। यह विश्राम दो तरहका हो सकता है — अेक तो आरामसे पड़े रहकर या सोकर हो सकता है, और दूसरा अनार्थिक शौक या विनोदका श्रम करके किया जा सकता है। अिसमें खेल-कूद, कला-चातुरी, कथा-कीर्तन, ज्ञान-चर्चा वग़ैराका समावेश हो सकता है। यह श्रम धन पैदा करनेवाला भले न हो, फिर भी शरीर, मन, बुद्धि वग़ैराको स्वस्थ और अुन्नत करनेवाला होना चाहिये। यह कहना कोरी पंडिताअी दिखाना है कि मनुष्यको विश्रामकी कोअी ज़रूरत ही नहीं है; या अेक प्रकारकी मेहनत करनेके बाद दूसरे प्रकारकी जो मेहनत की जाय, वह भी अर्थोत्पादक ही हो और अिसीमें विश्राम समाया हुआ है। यह स्वीकार करनेमें किसीको हर्ज नहीं होना चाहिये कि आलस्य मानव-हितका

दुश्मन है । 'निकम्मा बैठा सर्वनाश न्योते' वाला वाक्य अनुभव वाक्य है । जिस फुरसतका परिणाम जुआँ, शराब, व्यभिचार, नाच-तमाशा, मलिन कला, गाली-गलौज तथा मारपीट हो, अुसे अैसी सर्वनाश न्योतने वाली फुरसत कहा जा सकता है ।

मगर आलसकी अनिष्टता स्वीकारने जाकर कहीं श्रमका बोझ न बढ़ जाय, अिस दहशतसे फुरसतवाद पैदा हुआ । जीनेके लिअे किये जाने-वाले **आवश्यक** श्रममें से ज़्यादासे ज़्यादा मुक्ति पहले मिलने दी जाय; **आवश्यक** श्रम ही श्रान्ति (थकावट) है; और अिसमें से निकलना विश्रान्ति—फुरसत । थकावट महसूस होने लगे अुससे पहले ही फुरसत या विश्रान्ति मिले, तो ज़्यादा अच्छा । अैसा हो तभी दूसरे प्रकारके ज्ञान-कला वगैराका अुपार्जन-सर्जन हो सकता है । थकावट-रहित फुरसत बिताते न आता हो, तो हर्ज नहीं; 'निकम्मा बैठा सर्वनाश न्योते' का खतरा अुठाकर भी मनुष्योंको पहले फुरसत दी जानी चाहिये । बादमें धीरे-धीरे फुरसतके समयको अच्छी तरह बितानेकी तालीम दी जा सकेगी । यह फुरसतवाद है ।

विचार करने पर मालूम होगा कि श्रम-फुरसतका सम्बन्ध त्याग-भोग, अहिंसा-हिंसाके सम्बन्ध जैसा है । जिस तरह मनुष्य सर्वथा भोगके बिना नहीं रह सकता, सर्वथा हिंसाके बिना नहीं रह सकता, अुसी तरह फुरसत निकाले बिना, मेहनत बचानेकी कोशिश किये बिना भी वह नहीं रह सकता । भोगको मर्यादित करने या घटानेकी कोशिश करते हुअे भी मनुष्य बहुत कुछ भोग करता ही है । मगर अिससे अगर वह भोगको ही जीवनका सिद्धान्त बना ले, तो सर्वनाशके रास्ते जाता है । अिसी तरह हिंसाको मर्यादित करने — घटानेकी कोशिश ही अहिंसा है । अहिंसक होनेकी कोशिश करते हुअे भी अिन्सानसे कुछ हिंसा हो ही जाती है । मगर अिससे अगर वह हिंसाको ही जीवनका नियम बना ले, तो अुसका परिणाम यादवस्थली निर्माण करनेके सिवा और क्या हो सकता है ! यही बात श्रम और फुरसतके सम्बन्धमें कही जा सकती है । अिन्सान फुरसत तो निकालेगा ही । श्रम करते हुअे भी अुसकी नज़र फुरसत पर रहेगी ।

मगर फ़ुरसतको ही अगर वह अर्थशास्त्रकी या जीवनकी फ़िलॉसफी या ज्ञान-कलाका साधन समझ ले, तो अुसके परिणाम-स्वरूप अनर्थोंकी परम्परा ही अुसके हाथ लग सकती है।

अेक अैसी मान्यता है कि संस्कृतिका विकास फ़ुरसतमेंसे हुआ है और होता है। फ़ुरसत हो तो मनुष्य गाना सीख सकता है, नाचना सीख सकता है, चित्रकला, मूर्तिकला वग़ैरा सीख सकता है, शरीर, घर वग़ैराको सजाना, पढ़ना और मनन करना सीख सकता है, विज्ञान और तत्त्वज्ञानपर विचार कर सकता है। मगर जिसका सारा दिन और जीवन पेटका गढ़ा भरनेकी मेहनतमें और जीवनको जैसे-तैसे टिकाये रखनेमें ही चला जाय, वह अिस सारी विद्या-कला-ज्ञान वग़ैरा का किस तरह विकास कर सकता है? आज तक दुनियामें जो-जो महान संस्कृतियाँ पैदा हुअी हैं, भव्य नगर, अिमारतें, साहित्य, संगीत, कला, तत्त्वज्ञान आदि रचे गये हैं, वे सब फ़ुरसत निकाल सकनेवाले लोगोंके ही प्रतापसे हैं। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थामें थोड़े मनुष्य किसी तरह खूब धन अिकट्ठा कर सकते थे, और अिससे सिर्फ़ अुन्हें खुदको ही खूब फ़ुरसत नहीं मिलती थी, बल्कि वे दूसरे योग्य व्यक्तियोंको भी फ़ुरसत दिलानेमें मददगार हो सकते थे। मुझे शरीरश्रम करके जीवन निर्वाह नहीं करना पड़ता, थोड़ी मेहनतसे ज़्यादा कमा सकनेवाले कुछ लोगोंमें पुस्तकें खरीदनेकी शक्ति होती है, अिसलिअे 'नवजीवन प्रकाशन मंदिर' पुस्तकें छापनेका धन्धा चला सकता है, और अिससे मेरे जैसे लेखक निश्चिन्त होकर साहित्यसर्जन कर सकते हैं और महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टागोर जैसे नररत्न भी पैदा कर सकते हैं। अिसीकी बदौलत शंकराचार्य जैसे अनेक तत्त्वज्ञानी तत्त्वज्ञान बढ़ा सके हैं और साधु-सन्त भक्तिका प्रचार कर सके हैं। अिसीके कारण पिरामिड, ताजमहल, देलवाड़ाके मन्दिर, नालन्दा, मोहन-जो-दरो बने हैं। अणुमें रहनेवाली अद्भुत और प्रचण्ड शक्ति, बिजली तथा किरणोंकी वैज्ञानिक खूबियाँ, हैरतमें डालनेवाले प्रचण्ड अुद्योग और पुल वग़ैराके बाँधकाम करनेमें वे ही लोग शक्तिमान् हुअे हैं, जिन्हें अर्थोत्पादक श्रममेंसे फ़ुरसत मिली है। अगर फ़ुरसतकी शक्यता न होती, तो विज्ञान का विकास न होता। अठारहवीं सदी तक जो सुख-सुविधाअें बहुत बड़े

चक्रवर्ती राजाको भी नसीब नहीं थीं, वे आज बम्बअीमें रहनेवाले मिल-मज़दूरको या मामूली मुनीमको भी मिल सकती हैं। शाहजहांने जैसी बारीक मलमल पहनी होगी, वैसी ही या अुससे भी बारीक मलमल आजका मामूली मज़दूर पहन सकता है, और अुसकी स्त्री अैसी साड़ी पहनकर बर्तन साफ़ करने बैठ सकती है, जैसी दो सौ बरस पहलेके नगरसेठकी बहूने भी रातदिन पहननेके काममें नहीं ली होगी। पचास बरस पहले अगर लड़केके पाँवकी रेखा देखकर ब्राह्मण कहता था कि अिसके नसीबमें गाड़ीघोड़ा है, तो अुसकी माँकी खुशीका पार नहीं रहता था। आज पाँवकी अुस खास रेखाके बिना ही आदमी अेक आना खर्च करके बिजलीके वाहनमें बैठकर आधी बम्बअीकी सैर कर सकता है। राम जैसोंको भी विभीषणकी मददसे पुष्पक विमानमें बैठनेका लाभ मिला। आज शंकरराव देव जैसे निष्किंचन सेवक भी महीनेमें दो बार अुड़ सकते हैं और हिजरत करनेवाले ग़रीब किसानोंको भी विमानमें स्थानान्तर कराया जाता है। अितने बड़े विकासका श्रेय फुरसतको ही है। अभी तक यह फुरसत पूँजीपतियोंके ही अेकाधिकार में थी। अब अिसे यंत्रोद्योगों द्वारा और समाजवादी रचनाके द्वारा समाजव्यापी बनाया जा सकता है। पूँजीवाद स्वार्थी और अल्पव्यापी होनेसे वह हटा देनेके क़ाबिल है; मगर अुसका नवनीत — फुरसत तो ज़रूर बढ़ाने और सम्हालकर रखनेकी चीज़ है। अैसी है फुरसतकी महिमा!

मगर अिन विचारोंमें सत्य, अर्धसत्य और भूलसे भरी हुअी बातोंका अितना सारा मिश्रण कर दिया गया है कि अुनकी गहराअीमें अुतरकर विचार करनेकी ज़रूरत है। पहलेसे कअी गुनी ज़्यादा सुख-सुविधाके साधन आज व्यापक तरीकेसे जनताको सुलभ होते हुअे भी और समयकी बचत करनेवाले अितने सारे साधनोंका निर्माण होते हुअे भी यह कैसी विचित्र बात है कि जिस फुरसतके लिअे हम अितने ज़्यादा तरसते हैं, वह हमारे पूर्वजोंको जितनी मिलती थी, अुतनी भी हमें नहीं मिलती? जिस निश्चिन्ततासे सौ वर्ष पहलेका किसान जीवन निर्वाह करता था और अपने बड़े भारी परिवारको पालता था, अुस निश्चिन्ततासे अगर आजका किसान बरते तो पामाल ही हो जाय। कच्चे रास्तेपर तेजीसे दौड़नेवाला घोड़ा

या साँड़नी ही जब मुसाफिरी या सन्देशा लाने–लेजाने के वेगवान साधन थे, तब मनुष्यको जितनी फुरसत थी, अुतनी रेलगाड़ी मिलनेके बाद नहीं रही; और रेलगाड़ी मिलनेपर जो फुरसत थी, वह हवाअी जहाज मिलनेके बाद नहीं रही। महाभारतके युद्धने हमारे मगज पर पुराने ज़मानेमें होनेवाले बड़े से बड़े युद्धका संस्कार डाला है। दोनों तरफसे मिलकर अठारह अक्षौहिणी* सेनाने — अठारह ही दिनोंमें अुस समयकी सारी 'आर्य' जातियोंने — आपसमें अेक दूसरेका क़त्ल किया। मगर अिस बड़े युद्धमें भी आजकी अपेक्षा कितनी निश्चिन्तता और फुरसत थी? मुहूर्त पूछा जाता था, सेनायें अिकट्ठी होती थीं, बीचमें ग्रहण पड़ता था तो दोनों पक्षोंके बीच सुलह घोषित हो जाती थी, अुस वक़्त दुश्मन भी अेक दूसरेसे मिलते और आमोद-प्रमोद करते थे; लड़ाअीके दरमियान मामूली तौरपर सूर्यास्तके बाद लड़ाअी बन्द रहती थी, तब दुश्मनकी छावनीमें भी जाया जा सकता था; रातको कथा-कीर्तन होता था और वह 'ब्लैक आअुट' के बिना ही चलता था। भयंकर युद्धोंके बीच भी फुरसत और शान्ति रहती थी, जैसे हाअी कोर्टमें कोअी 'लॉंग कॉज़' (बड़ा केस) दायर किया गया हो। मगर आज तो यह हालत है कि दो माह पहलेसे जिसकी तारीख जाहिर हो चुकी हो, अैसी किसी विचार–परिषदमें भी कोअी शान्त चित्तसे नहीं पहुँच सकता। कुछ लोग तो अैसे निकल ही आयेंगे, जो बड़ी मुश्किलसे समय निकालकर विमान द्वारा वहाँ पहुँच सके हों। फिर वहाँ पहुँचकर सभीको अिस बातकी जल्दी पड़ जाती है कि कैसे तीन दिनके निश्चित कामको दो ही दिनमें निपटा दिया जाय। कुछ लोग अुसमेंसे भी जल्दी निकल जानेवाले मिल जायेंगे। कुछ स्वयं न पहुँच सकनेकी वजहसे आखिरी घड़ीमें 'अर्जेण्ट फोन' से सन्देश भेज देंगे। जिन दिनों छह-छह महीनोंमें डाक पहुँचती थी, तब अीस्ट अिण्डिया कम्पनीने छह हजार मील दूर हिन्दुस्तान जैसे देशमें राज्य क़ायम किया और चलाया। अकबरने लगभग पूरे देश पर हुकूमत की। आज फोन, रेडियो और विमान जैसे साधन होते हुअे भी अैसा करना असम्भव हो गया

---

* २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े तथा १,०९,३५० पैदल सिपाहियोंसे बनी हुअी अेक फौजी टुकड़ी।

है। अगर चौबीस घण्टेकी देर हुअी होती, तो काश्मीरकी क्या दशा होती, यह हमें पं० जवाहरलालजीने बतलाया ही था। यंत्र-युगमें जिस फुरसतके लिअे हम तरसते हैं, अुसकी यह हालत हो गअी है। हम ज्यादा फुरसत पानेके लिअे प्रयत्न करते हैं, मगर वह तो गधेकी नाकके सामने बँधे हुअे प्याजकी तरह हमसे दो अंगुल दूर की दूर ही रहती है। जिस तरह गधेका ध्येय प्याज पाना है, अुसी तरह हमारा ध्येय फुरसत पाना है, और अिसमें हमारी श्रद्धा है।

खैर, अब हम फुरसत और संस्कृतिके सम्बन्धपर विचार करें। संस्कृतिमें हम भक्ति, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, ललित कलायें, शरीर, मन, बुद्धि वग़ैरा की असाधारण शक्तियाँ, या सुख-सुविधाके साधनोंकी सुलभता — चाहे जिसे शामिल करें — सबके सम्बन्धमें हमें दो भेद करने होंगे। अेक तो किसी खास किस्मकी संस्कृतिकी विशेषताका निर्माण करनेवालोंका और दूसरा अुसके कदरदानों और अुपभोग करनेवालोंका।

जब हम अपने मित्रोंके साथ मिलकर छुट्टीके दिनोंमें (यानी फुरसतके वक़्त) अपना ही शौक पूरा करनेके लिअे अपने हाथों मालपुआ, कचौड़ी, कढ़ी, भात, दो-चार चटनियाँ वग़ैरा तैयार करके, भोजनके स्थानको फूलों और चित्रोंसे सजाकर, अगरबत्ती वग़ैरासे सुगन्धित करके गाते और आनन्द करते हुअे भोजन करते हैं और बादमें ज्ञानचर्चा करते हैं, तब पाककला, चित्रकला, संगीतकला, तत्त्वज्ञान वग़ैराके हम खुद ही निर्माता, कद्रदाँ और भोक्ता होते हैं। यह फुरसत अपनी है, और सर्जन भी खुदका ही है।

मगर जब हम अपनी और अपने मित्रोंकी फुरसतके वक़्त किसी स्त्रीको या रसोअियेको या होटलवालेको हुक्म देकर खाना तैयार करवाते हैं तथा किसी गवैये, नाचनेवाली या हरिकीर्तनकारको बुलाकर या ग्रामोफोन बजाकर वन-भोजनके कार्यक्रमकी योजना करते हैं, तब अुसमें कलाका निर्माण करनेवाले दूसरे होते हैं और अुनके आश्रयदाता तथा अुपभोग करनेवाले दूसरे। जो लोग अिन कलाओंका निर्माण करते हैं, वे अपनी फुरसतका वक़्त अुनमें नहीं लगाते, बल्कि पराधीनता या अपना पेट पालनेके लिअे ही मेहनत करते हैं। वे अुसका अुपभोग भी नहीं करते, अथवा अपने आश्रयदाताओंके अुपभोगमेंसे जो बच रहता है, अुसीका

अुपभोग कर सकते हैं । रसोअिये, होटलवाले या गवैये अपने कलामय व्यवसायको पेटके लिअे मज़दूरी करना ही समझते हैं, अिसके लिअे वे ज़्यादा ग्राहकोंकी तलाशमें रहते हैं और ये भी ग्राहकके फ़ुरसतवादको ही माननेवाले होनेके कारण अैसी युक्तियाँ ढूँढते हैं, जिनसे अिस मेहनतको कम किया जा सके और अपने कलासर्जक व्यवसायमेंसे फ़ुरसत हासिल की जा सके । अपने व्यवसायमें अिन्हें कलाकी अुपासना नहीं मालूम होती। अिसलिअे फ़ुरसत निकालकर वे दूसरी कलाओंके अुपासक बनना चाहते हैं और अुनमें भी वे बहुत करके कलाके निर्माता नहीं बनते, बल्कि किसी दूसरे पेशेवर कलाकारके आश्रयदाता ही बनते हैं ! रसोअिया अपनी फ़ुरसतका वक्त सिनेमामें बिताता है, सिनेमाका नट होटलमें या वेश्याओंके यहाँ पड़ा रहता है, कीर्तनकार 'ब्रह्मभोजन' की खोज करता है और ब्रह्मज्ञानी साधु गाँजे-भंगके सेवनमें विश्राम पाता है ! ज़्यादातर सभी लोग सिनेमा-नाटक, घुड़दौड़, क्रिकेट या अैसी ही कलाओंके आश्रयदाता बनते हैं, जिनमें थोड़े लोगोंकी मेहनतका अुपभोग बहुतसे लोग अेक साथ कर सकें और बहुतसी अिन्द्रियोंको रिझाया जा सके । आज तो बहुतसी कलाओंका अन्तिम स्थान सिनेमाघर है । वहाँका पहनावा, नृत्य, संगीत, घरकी सजावट, श्रृंगार, चित्र वगैरा समाजकी कलाके आदर्श बनते हैं । अिसमें सभी कलासर्जकोंका सहयोग होता है । चित्रकार, शिल्पी, कथालेखक, कवि, गायक, वैज्ञानिक सबको वहाँ स्थान मिलता है; और वे सब वहाँ कला द्वारा जीवननिर्वाह करते हैं, और पैसा देनेवाले संयोजकके हुक्मके मुताबिक कलाका प्रदर्शन करते हैं ।

ललित कलायें संस्कृतिका नवनीत – मारवन – मानी जाती हैं । शालायें अपने वर्षभरके शिक्षणका प्रदर्शन नाट्यप्रयोगों द्वारा करती हैं; अितिहासकार प्रजाकी संस्कृतिके अुदाहरण स्वरूप भव्य नगरियों और अिमारतों तथा श्रेष्ठ काव्य, नाटक वगैराकी सूची देते हैं । अिन कलासर्जकोंके जीवनमें फ़ुरसतके लिअे कितनी जगह थी, अपनी कलाका कितना आनन्द था, चित्तमें कितनी प्रसन्नता थी, अपने साथी कलाकारोंके लिअे कितना सद्भाव और क़द्रदानी थी, अपने आश्रयदाताओंकी खुशामदके लिअे अुन्हें अपनी कलाको कितना बिगाड़ना या गिराना पड़ता था, और शौक़से

नहीं, बल्कि अपने आश्रयदाताओंके लिअे अपने व्यक्तित्वको कितना कुचलना पड़ता था, अिसका ये संस्कृतिका माखन चखनेवाले और अुसका गुणगान करनेवाले शायद ही कभी अन्दाज़ लगाते हैं। यह सच है कि फुरसतकी बदौलत अिन कलाओंका पोषण हुआ, मगर फुरसत किसकी, और कितनोंकी? कलाके सर्जकोंकी या आश्रयदाताओंकी? अिन आश्रयदाताओंकी फुरसत कहाँसे आयी?

और फुरसतको पूजनेवाली या फुरसतवालोंके लिअे निर्माण की हुअी कलाओंका स्वरूप भी कैसा है? सामान्य जीवनमें जैसे अंगविक्षेप करते ही न बनें, संगीतके स्वर और तालसे अगर अुसका सम्बन्ध न हो, तो देखनेवालेको (नृत्य) करनेवालेके सम्बन्धमें यह शक पैदा हो जाय कि अुसे चित्तभ्रम तो नहीं हो गया है या अंग्रेजीमें जिसे 'सेन्ट वाअिट्सका नाच' कहते हैं अैसा अेक तरहका वायुरोग तो नहीं हो गया है; और जो वेश, हाव-भाव और रंगबिरंगी किरणों और भड़कीली सजावटके बिना फीकी पड़ जाय, वह है हमारी आजकी अूँचीसे अूँची नृत्यकलाका स्वरूप। और अिसीको सीखनेके पीछे बाल-मंदिरके बच्चोंसे लेकर युनिव्हर्सिटीके तरुण-तरुणियों तक सब बेचैन रहते हैं। जैसे लम्बे और पतले नाक, कान, आँख, कमर, अुँगलियाँ और नखवाले मनुष्य दुनियामें कहीं भी देखनेको नहीं मिल सकते, और अगर दिखें तो विचित्र प्राणियों जैसे ही लगें, अुन्हें हम चित्रकलाके अुत्तम नमूने मानने लगे हैं। हमें लगता है कि अिन नृत्य-चित्र वगैरामें जो खूबसूरती मालूम होती है, अुसका कारण अुनके अद्भुत अंगविक्षेप या नाक, कान, आँख वगैराकी असामान्य बनावट है। सच पूछा जाय, तो अिनकी आकर्षकताका आधार सबकी अिन्द्रिय-मोहन शक्ति ही है। कुरूपता दो प्रकारकी होती है: अेक नफ़रत पैदा करनेवाली, वीभत्स लगनेवाली और देखते ही जीमें मिचली पैदा करनेवाली: जैसी कि राक्षसकी, यमदूतकी, हिडिम्बाकी, सूअरकी। दूसरी है नाजुक और श्रृंगारकी हुअी कुरूपता। यह कुरूपता अैसी है कि अगर अिसका श्रृंगार अुतार डालें, तो दुर्बलता, अल्पवीर्यता, रोग या व्यंगमें ही अिसका शुमार हो। मगर नाजुक और सिंगारी हुअी होनेसे, कुरूपता होते हुअे भी वह वीर्यवान सुरूपता जैसी ही अिन्द्रियमोहन लगती है। मेरे खयालसे विचार

करने पर हमें विश्वास हो जायगा कि आज हम कलाके नाम पर ज़्यादातर नाजुक कुरूपताको ही सौंदर्य मानने लगे हैं। जितनी ज़्यादा अल्पवीर्यता होती है, अुतने ही ज़्यादा शृंगार, हाव-भाव वगैरासे अुसे ढँकनेकी कोशिश की जाती है। और देखनेवाले अुस बाहिरी रंगपर ही मुग्ध होकर रह जाते हैं, अुसके पीछे रहनेवाली कुरूपताको नहीं देख पाते।

मगर यह थोड़ा विषयांतर हो गया। मूल बात फ़ुरसतकी है। और अुसमें कहनेकी बात यह है कि फ़ुरसत-पूजामेंसे निकले हुअे कला-साहित्य-काव्य वगैरा अुथले, अिन्द्रियोंको आकर्षित करने वाले, रागद्वेषसे भरे हुअे और ज़्यादातर बाजारू वृत्तिके होते है। अपने जीवनके नित्य नैमित्तिक कार्योंमें, सम्बन्धोंमें, श्रममें जिस कृतार्थता और प्रसन्नताका अनुभव हो, अुसके परिणामस्वरूप अुन कामोंको सुशोभित करने, अुन सम्बन्धोंमें भक्ति, मिठास और रसिकता लाने और अुस श्रममें पारंगतता प्राप्त करने तथा सुन्दरता भरनेकी जो प्रवृत्ति हो, अुससे निर्माण होनेवाली कला वगैरा अलग ही किस्मकी होगी। अिसकी कीमत पैसोंमें आँकी ही नहीं जा सकती। अिसकी कदर करनेके लिअे जो कुछ दिया जाय, वह देनेवालेको फूल नहीं, बल्कि फूलकी पँखुरी जैसा ही लगेगा और लेनेवालेकी नज़र अुस चीज़पर नहीं, बल्कि देनेवालेके भावपर ही रहेगी।*

अिस बातसे कोअी अिनकार नहीं कर सकता कि मानवकी अुन्नतिके लिअे फ़ुरसत ज़रूरी चीज़ है। शान्तिसे खाने या सोनेका भी समय न मिले, जीवनमें हमेशा 'वक़्त नहीं' का ही स्वर प्रधान हो अुठे, यह स्थिति कभी भी अिष्ट नहीं है। मगर अिसका नाम फ़ुरसत नहीं है कि दिनमें कुछ घंटे खूब दौड़धूप करके भूतकी तरह काम करना, बादमें कुछ घंटे मौज-शौकके

* स्वामी सहजानंदके जीवन चरित्रमें मैंने अुनके जीवनकी अेक घटनाका वर्णन किया है। आत्माराम नामके अुनके अेक दरजी शिष्यने अुन्हें भेंट करनेके लिअे अेक सुन्दर अँगरखा सीया। भावनगरके दरबार अिस अँगरखेको देखकर अितने खुश हुअे कि अैसा ही अुनके लिअे सी देनेपर सौ रुपये सिलाअी देनेको तैयार हो गये। मगर दरजीने कहा, "अैसा दूसरा अँगरखा तो मुझसे नहीं सीते बनेगा। अिस अँगरखेमें तो प्रीतके टाँके पड़े हैं। अैसे टाँके आपके अँगरखेमें डालनेके लिअे दूसरी प्रीत कहाँसे लाअूँ?" सच्ची कलाका सर्जन अिस तरह होता है।

कार्यक्रममें बिताना और फिर नींद लानेके लिअे कोअी दवा-दारू लेकर सबेरे सात-आठ बजे तक न पूरी नींद, न पूरी जाग्रतिकी हालतमें बिस्तरपर करवटें बदलते रहना। फुरसतका जो सच्चा सुख जीवनके सारे कामोंको शान्तिसे कर सकनेकी स्थितिमें मिल सकता है, वह कामका वेग बढ़ाकर फुरसत निकालनेकी कोशिशसे नहीं मिल सकता। सुख तो अेक तरफ़ रहा, अभी तक तो यह फुरसत ही मिलनेकी आशा नहीं दिखाअी पड़ती।

वेगवान यंत्रों द्वारा हमने समयको धोखा देनेकी कोशिश प्रारम्भ की है। बहुत तेज़ीसे चीज़ें तैयार करना, तेज़ीसे जगहें बदलना, अिस तरह वेगके प्रति हमारा मोह पागलपनकी सीमातक पहुँच गया है। फिर भी समय—काल—को धोखा देनेकी स्थितिसे हम अभी कितनी दूर पड़े हैं! अभी अैसे विमान नहीं बने, जो हवामें आवाजकी गतिसे होड़ लगा सकें; पर अिस तरहकी कोशिश अवश्य जारी है। मगर प्रकाश और बिजलीकी गतिके सामने अिस वेगकी कोअी कीमत ही नहीं। जब आठ घंटोंमें बम्बअीसे लन्दन पहुँचानेवाले विमान बनेंगे, तब हम बड़ी मुश्किलसे आवाजकी गतिकी बराबरी कर सकेंगे। १/३० सेकंडमें पहुँचानेवाले विमान बनानेपर हम प्रकाशकी बराबरी कर सकेंगे। कहाँ १/३० सेकंड और कहां आठ घंटे! समयका कितना बिगाड़! और मनकी गतिके सामने तो प्रकाशकी गति भी घोड़ेके सामने बीरबहूटीकी गतिके बराबर है। सच्चा वेग तो तब हासिल होगा, जब हम मनके वेगसे अिच्छित स्थानपर देह सहित पहुँचने और चीज़ें बना लेनेकी स्थितिको पहुँच जायेंगे! मगर अुस समय यह फुरसत—शान्ति—सुख—विश्रान्ति हम भोग सकेंगे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। बहुत करके तो नहीं ही भोग सकेंगे; हाँ, जीवमात्रके नाशके परिणामस्वरूप क़यामतकी राह देखते हुअे क़ब्रमें या अन्तरिक्षमें पड़े रहनेकी फुरसत मिल सकती हो, तो भले मिल जाय! या फिर सभी लोग सतयुगके सत्यसंकल्पी और शुद्ध चित्तवाले अिन्सान बन जायें, तब मिल सकती है।

बचपनकी अेक बात मुझे याद आ रही है। अेक मुसलमान किसानका हमारे परिवारके साथ स्नेह-सम्बन्ध था। अुसके जवान लड़केको बम्बअी देखना था। हमारे कुटुम्बमें किसीकी शादी थी। मेरे पिताजीने विचार

किया कि अिस बहाने अगर यह लड़का बम्बअी जाकर शहर भी देख ले और वहाँकी शादीमें भी शरीक हो जाय, तो क्या हर्ज़ है। अुसे तैयार होकर आनेकी सूचना भेजी गअी और वह अपने गाँवसे आ पहुँचा। किस गाड़ीमें बम्बअी जाना है, अिसपर चर्चा हो रही थी। अुन दिनों अकोलासे बम्बअी जानेके लिअे दो गाड़ियाँ थीं। अेक पैसेंजर थी, जो लगभग अठारह घंटोंमें पहुँचती थी और भुसावलमें गाड़ी बदलनी पड़ती थी। दूसरी मेल थी, जो चौदह घंटोंमें और बिना बदले पहुँचती थी। अुस लड़केने देखा कि मेलका किराया ज़्यादा होता है, बीचमें वह बहुतसे स्टेशन छोड़ देती है, और गाड़ीमें बैठना भी कम मिलता है। अिसके सिवा बहुतसे स्टेशन रातमें निकल जाते हैं। पैसेंजरका किराया कम, दो गाड़ियोंमें बैठनेको मिले, दिनमें खाना हो, अेक-अेक स्टेशन दिखे और गाड़ीमें चार घंटे ज़्यादा बैठनेको मिले। अुसने जब सुना कि मेरे पिताजी वग़ैरा कुछ लोग मेलमें जानेवाले हैं और दूसरे कुछ लोगोंको पैसेंजरसे भेजना तय हुआ है, तो अुसे यह बात विचित्र लगी। ये रेलवेवाले कैसे हैं, जो ज़्यादा समयतक गाड़ीमें बैठनेवालों और अुसका ज़्यादा अुपयोग करनेवालोंको तो सस्तेमें ले जाते हैं, और कम समय बैठनेवालोंसे ज़्यादा किराया लेते हैं; और महँगा सौदा पसन्द करनेवाले ये सेठ लोग भी कैसे हैं? मेरे पिताजीके भोले और भले होनेकी शोहरत तो पहलेसे ही थी, मगर अुसे लगा कि यह तो भोलेपन और भलमनसाहतकी हद हो गअी! रेलवेपर अितना अुपकार करनेका क्या कारण हो सकता है?

यह किसान स्वाभाविक अर्थशास्त्रको समझता था। आधुनिक अटपटे अर्थशास्त्रमें अभी अुसका प्रवेश नहीं हो पाया था। स्वाभाविक अर्थशास्त्रमें सिर्फ़ समयकी या समयकी बचतकी कीमत नहीं होती। अुसमें समयके साथ मेहनत, तथा वस्तुकी अुपयोगिता वग़ैरा कितनी बढ़ती है, अिसकी कीमत है। अुसके जीवनकी व्यवस्था ही अैसी थी कि अगर अुसे गाड़ीमें चार घंटे ज़्यादा बैठना पड़े, तो अिससे अुसका कोअी काम नहीं बिगड़ता था, अुल्टे प्रवासका आनन्द ही बढ़ता था। अुसकी नज़रमें तो हमारे भी कोअी काम अिससे बिगड़नेवाले नहीं थे। अिस हालतमें चार घंटे कम बैठकर ज़्यादा किराया देना अुसके लिअे नुक़सानका सौदा

था। अुसके मजबूत, गठीले शरीरके लिअे चार घंटे ज़्यादा बैठने या गाड़ी बदलनेकी मेहनत कोअी बिसातमें नहीं थी।

अिससे अिनकार नहीं किया जा सकता कि समय, वेग, समयकी बचत, फुरसत, शक्तिकी बचत वगैराका योग्य परिस्थितियोंमें महत्त्व है। मगर हम लगभग मूर्खोंकी तरह अिनकी निरपेक्ष रूपसे स्वतंत्र ही कीमत समझने लगे हैं, बल्कि कभी कभी अुनकी कीमत पैसेसे भी ज़्यादा समझ लेते हैं। हमारा कोअी भी काम न बिगड़ता हो, अुल्टे वक़्त बेकाम जाता हो या अुसका दुरुपयोग ही होता हो, शरीरमें काम करनेकी शक्ति भी हो, अुल्टे कामके अभावमें शरीर ढीला बनता हो, फिर भी हम समय, वेग आदिकी अंधपूजा करते है। हमने देखा कि चरखेकी अपेक्षा मिलसे ज़्यादा तेज़ीसे कपड़ा तैयार हो सकता है। बैलगाड़ीमें बैठकर या पैदल यात्रा करनेकी अपेक्षा बस द्वारा ज़्यादा तेज़ीसे कहीं पहुँचा जा सकता है; और रेलगाड़ीकी अपेक्षा विमान जल्दी पहुँचा देता है। अिसलिअे गप्पें मारने या ताश-शतरंज खेलनेके सिवा दूसरा कोअी काम न हो, बेकारीके कारण कोअी कमाअी भी न हो, फिर भी अगर कोअी चरखा चलानेकी बात कहे, तो ये दलीलें दी जाती हैं — "अिस तरह कब तो कपड़ा बनेगा और कब पहनेंगे? चरखेसे आखिर कितना सूत निकलेगा? अिस यंत्रके ज़मानेमें चरखा कैसे चल सकता है? अिसमें कितना मेहनताना मिलेगा? यह तो वक़्त और पैसेकी बरबादीके सिवा और कुछ नहीं है। अितने समयमें तो दूसरा बहुतसा काम हो सकता है।" वगैरा वगैरा। अगर अुनसे कहें कि "आपके गप्पों और ताशके समयके आधे भागमें आप अपने कपड़े तैयार कर सकते हैं, चरखा दुनियामें चले चाहे न चले, वह आपकी ज़रूरत तो पूरी कर ही सकता है," तो यह बात अुनके गले नहीं अुतरती। यही हाल तेज़ीसे यात्रा करनेके सम्बन्धमें है। क्योंकि, समयकी या अुसकी बचतकी या फुरसतकी कीमत अुसके अुपयोगके तरीके पर निर्भर है, यह न समझते हुअे अुसकी निरपेक्ष कीमत माननेकी हमारी आदत पड़ गअी है।

अगर फुरसत, समयकी बचत, वेग वगैरा जीवनको समृद्ध करते हैं तथा निश्चिन्तता और सुख-शान्ति लाते हैं, तो वे सब शोभते हैं और

फायदेमन्द भी हैं, नहीं तो अुनकी कोअी कीमत नहीं समझनी चाहिये। मगर यह सब तभी गले अुतर सकता है, जब चरित्र और नीतिकी समृद्धिका महत्त्व हमारी समझमें आ जाय। जबतक हमें सिर्फ बाह्य वैभव बढ़ानेकी ही चिन्ता लगी है, जबतक बड़े बड़े शहर, जबरदस्त कारखाने, प्रचंड विमान, सर्वविनाशी अस्त्र-शस्त्र, सुख-सुविधाके अेकसे अेक बढ़िया साधन और भोगोंकी अति वृद्धि ही हमें विज्ञान और सभ्यताकी विजय पताकायें मालूम होती हैं, तबतक जीवनकी ही नहीं, बल्कि पदार्थोंकी भी कीमत आँकनेका सच्चा माप हमें नहीं मिलेगा।

८

आर्थिक क्रान्तिके मुद्दे

मुझे अितना अधिक ज्ञान तो नहीं है कि मैं ठीक-ठीक बतला दूँ कि किस निश्चित योजना और विनिमयके साधन द्वारा अिन सबको अिस तरह व्यवहारमें अुतारा जा सकता है कि जीवनके लिअे ज़्यादा महत्त्वकी चीज़ोंकी कीमत ज़्यादा आँकी जाय और कम महत्त्वकी चीज़ोंकी कीमत कम। मगर अिस विषयमें मुझे कोअी सन्देह नहीं कि हमारे विचार और व्यवहारमें नीचे लिखी क्रान्तियाँ होनी ही चाहियें:

१. प्राणोंकी—खास करके मनुष्यके प्राणोंकी कीमत सबसे ज़्यादा आँकी जानी चाहिये। किसी भी जड़ पदार्थ और स्थानकी प्राप्तिको मनुष्यके प्राणोंसे ज़्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिये।

२. अन्न, जलाशय, कपड़े, घर, सफाअी व तन्दुरुस्ती वग़ैरासे सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ें और अुन्हें सिद्ध करनेवाले धन्धे दूसरी सब चीज़ों और धन्धोंकी अपेक्षा पैसेके रूपमें ज़्यादा कीमत अुपजानेवाले होने चाहियें। दुश्मनीके कारण अिनका नाश करना अन्तरराष्ट्रीय नीतिमें अत्यन्त हीन काम माना जाना चाहिये और वैसा करनेवाले मानव-जातिके दुश्मन समझे जाने चाहियें।

३. किसी चीज़की विरलता, तथा ज्ञान, कर्तृत्व, शौर्य वग़ैराकी विरलताके कारण वह चीज़ तथा अुसे सिद्ध करनेवाले धन्धोंकी प्रतिष्ठा भले ज़्यादा हो; मगर वह प्रतिष्ठा पैसेके रूपमें नहीं आँकी जानी चाहिये।

४. देशकी महत्त्वकी सम्पत्ति अुसकी अन्न पैदा करनेकी शक्ति और मानव संख्याके आधारपर निश्चित की जानी चाहिये; अुसकी खनिज सामग्री, विरल सम्पत्ति या यंत्रोंके आधारपर नहीं। अगर अेक आदमीके पास सोना या पेट्रोल पैदा करनेवाली पाँच अेकड़ ज़मीन हो और अन्न पैदा करनेवाली पाँचसौ अेकड़की खेती हो और अुसे अिन दोनोंमेंसे अेकको छोड़ना पड़े, तो आजके अर्थशास्त्रके मुताबिक वह पाँचसौ अेकड़की खेतीको छोड़ देगा। सच्ची कीमत–गणितके मुताबिक अुसे पाँच अेकड़की खदान छोड़नेके लिअे तैयार होना चाहिये। यानी अैसा तरीका काममें लाना चाहिये जिससे सम्पत्तिकी कीमत स्वर्णपट्टीसे नहीं, बल्कि अन्नपट्टीसे और अुपयोगिताकी शक्तिसे आँकी जाय।

५. अेक रुपया या अेक रुपयेका नोट कहीं रखे हुअे अमुक ग्रेन सोने या चाँदीका प्रमाणपत्र नहीं, बल्कि अमुक सेर या तोले अनाजका प्रमाणपत्र होना चाहिये। पैसा यानी अमुक ग्रेन धातु नहीं, बल्कि अमुक मापका 'ग्रेन' (धान्य) ही होना चाहिये। पाअुण्डका मतलब अक्षरशः पाअुण्ड — (रतल — अमुक हजार 'ग्रेन' धान्यके दाने) ही समझा जाना चाहिये।

६. सोनेका भाव अमुक रुपये तोला है और चावलका भाव अमुक रुपये मन है, अिस भाषामें अब कोअी अर्थ नहीं रह जाना चाहिये। सच पूछा जाय, तो अिसमें कोअी अर्थ रहा भी नहीं। क्योंकि रुपया खुद ही स्थिर माप नहीं है। सोनेका भाव फी तोला अमुक मन गेहूँ या चावल है, अैसी भाषा काममें लानी चाहिये (बेशक, तोले तथा मन दोनोंके वज़न पहलेसे निश्चित हो जाने चाहिये।)

७. नोट या सिक्के द्वारा ही कर्ज़ चुकाना लाज़मी नहीं होना चाहिये। अनाजके मालिकको यह अधिकार होना चाहिये कि वह नोट या सिक्केके पीछे रहनेवाले निश्चित अनाज द्वारा अपना कर्ज़ चुकाये। अगर अनाज पैदा करनेवालोंसे अनाजके ही रूपमें कर या महसूलकी वसूली की जाय, तो सरकार और (खास करके शहरी तथा गैरकिसान) प्रजाकी अन्न संकटके समय काले बाज़ार, नफ़ाखोरी वगैरासे अच्छी

तरह रक्षा हो सकती है। क्योंकि अुस हालतमें सरकारके पास हमेशा ही अन्नके कोठे भरे रहेंगे।

८. ब्याज जैसी चीज़ रहने ही नहीं देनी चाहिये। बल्कि धन-संग्रहपर अुल्टे कटौती होनी चाहिये। जिस तरह बेकार पड़ा हुआ अनाज बिगड़कर या सड़कर कम हो जाता है, अुसी तरह बेकाम पड़ा हुआ धन कम होता है। वह बिगड़कर कम भले न हो, फिर भी अुसे सम्हाल्कर रखनेकी मेहनत तो पड़ती ही है। अगर सोने-चाँदीको धन समझनेकी आदत न हो, तो यह बात आसानीसे समझमें आ सकती है। सोना–चाँदी धन नहीं हैं, बल्कि विरल्ता, तेजस्विता वगैरा गुणोंकी बदौल्त प्रतिष्ठापात्र आकर्षक पदार्थ मात्र हैं। ये पड़े-पड़े बिगड़ते नहीं हैं, अितना ही अिनके मालिकको अिनका लाभ है। अिस लाभके सिवा अिनपर दूसरा कोअी लाभ या ब्याज लेनेका कारण नहीं है।

९. यह निश्चित करना अनुचित न माना जाय कि जो चीज़ें अुपयोगमें लेनेसे घिसें नहीं, या बहुत ही धीरे धीरे घिसें अुनकी कीमत कम आँकी जानी चाहिये। अुनकी प्रतिष्ठा भले मानी जाय, अुनपर कब्जा करने तथा अुनका अुपभोग करनेके सम्बन्धमें नियम भी रहें, मगर अुनपर किसीका स्थिर स्वामित्व स्वीकार न किया जाय। अुनपर सबका संयुक्त अधिकार हो। यह अधिकार कुटुम्ब, गाँव, ज़िला, देश या जगतमें अुचित ढंगसे बँटा हुआ हो।

१०. आमदनी तथा खानगी पूँजीकी अूपर तथा नीचेकी मर्यादायें बाँधनी चाहिये। नीचेकी मर्यादासे कम आमदनी तथा पूँजीवाले पर कर वगैराके बंधन न रहें; और अूपरकी मर्यादासे ज़्यादा आमदनी तथा पूँजी रखी ही न जा सके।

जड़मूलसे क्रान्ति

तीसरा भाग

राजकीय क्रान्ति

१

कुआँ और हौज़

अब मैं राजकीय क्रान्तिके प्रश्नोंपर थोड़ा विचार करना चाहता हूं। अिस सम्बन्धमें भी पुराने ज़मानेसे ही मानव-समाज कअी प्रकारके राजकीय तंत्रों और वादोंका विचार और प्रयोग करता आया है। अेक व्यक्तिका राज, गणराज, प्रजाराज, गुरुशाही, राजाशाही, सरदार-मंडलशाही, महाजन-शाही, पंचायतशाही, तानाशाही (डिक्टेटरशिप), बहुमतशाही (मेजॉरिटी राज), वग़ैरा अनेक प्रकारके तंत्रोंकी चर्चायें चलती ही रहती हैं, और शायद भविष्यमें भी चलती रहेंगी।

अिसका मतलब सिर्फ अितना ही है कि सभी लोग मनुष्य जीवनको सुखी बनानेके लिअे किसी न किसी तरहके राजतंत्रका होना आवश्यक समझते हैं; मगर अुसका (राजतंत्रका) आदर्श विधान अभी तक कोअी खोज नहीं सका है। मानव-समाज अिस सम्बन्धमें विचार और प्रयोग करता आया है, अनुभव लेता आया है, मगर अभी तक कोअी प्रयोग पूरी तरह सफल नहीं हुआ, और न कोअी लम्बे अरसे तक सन्तोषजनक रूपसे काम देनेवाला साबित हुआ।

कहा जा सकता है कि आज दुनियाके समझदार व्यक्ति और अुनका अनुसरण करनेवाले देश तीन मुख्य वर्गोंमें बँटे हुअे हैं। प्रजाकीय बहुमत-शाही (डेमॉक्रेसी), फौजी तानाशाही (फासिस्ट डिक्टेटरशिप) और मज़दूरोंकी तानाशाही (साम्यवादी डिक्टेटरशिप)। फिर, जिस तरहके आर्थिक वादमें श्रद्धा हो अुसके मुताबिक अिनमें पूँजीवादी, समाजवादी वग़ैरा भेद पड़ते हैं, और हरअेक देशकी प्रत्यक्ष परिस्थितिके विचारसे हरअेक 'शाही' के व्यावहारिक स्वरूपोंके बारेमें कअी तरहके विचार बनते हैं: जैसे, जातिवार मताधिकार, अेकत्र मताधिकार, सर्वजन मताधिकार, विशिष्ट जन मताधिकार, प्रत्यक्ष चुनाव, अप्रत्यक्ष चुनाव, दो धारासभायें, अेक धारासभा, मज़बूत केन्द्र, मर्यादित केन्द्र, वग़ैरा वग़ैरा।

अगर हरअेक मतकी प्रामाणिकताको स्वीकार करें, तो अिन सब पक्षोंका सिर्फ अितना ही अर्थ होता है कि मनुष्यको सुखी बनानेके अुपाय खोजनेमें हम अभी भी अंधोंकी तरह ही टटोल रहे हैं।

अिन वादोंकी सूक्ष्म नुक़्ताचीनी करनेका मेरा अिरादा नहीं है। हमारे देशके ज़्यादातर विद्वानोंका मत है कि हमारे अपने देशके लिअे अेक प्रजाकीय बहुमतशाही अनुकूल हो सकती है, और आज तो यह बात अेक तरहसे तय है कि जो कुछ भी प्रयोग करने हों, वे सब अिस शाहीके अनुकूल रहकर ही किये जाने चाहियें।

मगर अिस मूल चीज़को स्वीकार कर लेनेके बाद भी मताधिकार, चुनाव, राजकीय पक्ष वगैराके सवाल कुछ कम झगड़ा और कम खून-खराबी करानेवाले तथा अुलझनमें डालनेवाले नहीं हैं। काना, मात्रा, हिज्जे, व्याकरण, विराम चिह्न, वगैराकी चाहे अेक भी भूल न हो, और बहुत साफ़ अक्षरोंमें लिखा गया हो, फिर भी क़ानून चीज़ ही अैसी है कि जिसके अप्रामाणिक अुपयोग करनेके रास्ते निकल ही आते हैं। क्योंकि कानून अुन लोगोंके बनाये हुअे रहते हैं, जिनकी दंड-शक्तिपर श्रद्धा होती है और फिर अिस दंड-शक्तिपर ही कानूनकी विधियोंका नियमन होता है। अिसलिअे जिस हद तक यह दंड-शक्ति कमज़ोर साबित होती है, अुसी हद तक कानून तोड़नेके रास्ते भी निकल ही आते हैं।

यह दंड-शक्ति कअी तरहसे कमज़ोर साबित होती है। मगर अिन सारी कमज़ोरियोंका अेकमात्र कारण अगर बतलाना हो, तो वह शासित प्रजाका चरित्र ही है।

यह कहावत प्रसिद्ध है कि "कुअेंमें हो अुतना हौज़में आवे"। 'अुतना' के साथ 'वैसा' शब्द भी रखा जा सकता है। यानी कि "कुअेंमें हो अुतना और वैसा हौज़में आवे"। यह हो सकता है कि कुअेंकी अपेक्षा हौज़में कम आवे, और अैसा होता ही है। मगर यह स्पष्ट है कि अुससे ज़्यादा नहीं आ सकता। फिर कुअेंका पानी साफ होते हुअे भी वह हौज़में जाकर बिगड़ सकता है, मगर कुअेंका पानी दूषित हो और हौज़में साफ पानी आवे यह नहीं हो सकता। अिसलिअे कुअेंके बाद हौज़की सफ़ाअीपर ध्यान देनेकी ज़रूरत अवश्य

है, मगर यह नहीं हो सकता कि कुआँ खराब हो और हौज़ साफ रहे। हौज़ शासकवर्ग है और कुआँ समस्त प्रजा है। चाहे जैसे कानून और विधान बनाअिये, मगर यह कभी नहीं होगा कि पूरी प्रजाके चरित्रकी अपेक्षा शासकवर्गका चरित्र बहुत अूँचा हो; और प्रजा अपने चरित्रके बलपर जितने सुख-स्वातंत्र्यके लायक होगी, अुससे ज़्यादा सुख-स्वातंत्र्य वह भोग नहीं सकेगी। जिस राजप्रणालीमें शासकवर्गको सिर्फ दण्ड देनेका ही अधिकार नहीं मिलता, बल्कि साथ साथ धन और प्रतिष्ठा भी मिलती है, अुसमें वे सारी अनुकूलतायें तो होती हैं, जिनसे शासकवर्गका चरित्र प्रजाके चरित्रसे ज़्यादा हीन बने, मगर चरित्रके अुन्नत होनेकी अनुकूलतायें नहीं होतीं। और आखिरमें शासितोंमेंसे ही शासकवर्ग पैदा होता है। यानी धीरे धीरे यह नतीजा होता है कि शासित प्रजाके हीनतर भागके हाथमें शासन चला जाता है। सभी प्रकारकी राजप्रणालिकायें थोड़े ही समयमें जो सड़ने लगती हैं, अुसका यही कारण है।

यह सच है कि कुअेंसे हौज़ छोटा होता है, मगर शासकवर्गका हौज़ अितना छोटा नहीं होता कि अूपरका थोड़ा हिस्सा साफ हो, और नीचेके हिस्सेमें सख्त कानूनकी शोधक दवा (डिस अिन्फेक्टन्ट) डाल दें, तो सब ठीक हो जाय। क्योंकि प्रजाका प्रत्यक्ष सुख-स्वातंत्र्य अूपरी दरजेके शासकोंके हाथमें नहीं, बल्कि नीचेके शासकोंके हाथमें होता है, और शोधक दवाअियां चाहे जितनी तेज़ हों, वे खराबीका बहुत थोड़ा अंश ही दूर कर सकती हैं।

अिसपरसे, प्रजाके हितचिन्तकों, विद्वानों और खुद प्रजाको भी समझना चाहिये कि सुख-स्वातंत्र्यकी प्राप्ति सिर्फ राजकीय विधान और कानूनोंकी सावधानीसे की हुअी रचना या अुद्योगों वगैराकी योजनाओं द्वारा सिद्ध नहीं होगी, न शासकवर्गमें थोड़े अच्छे लोगोंके रहनेसे ही होगी, बल्कि समस्त प्रजाकी चरित्रवृद्धि तथा शासकवर्गके बहुत बड़े भागकी चरित्रवृद्धि द्वारा ही होगी। अच्छे कानून और योजनायें मदद कर सकती हैं, मगर सिर्फ साधनके रूपमें। वे मूल कारण नहीं बन सकतीं। अगर प्रजाको दुःखी करनेके लिअे अुसी प्रजाके लोगोंकी ज़रूरत पड़ती हो, तो दुष्टसे दुष्ट विजेता भी बलवान चरित्रवाली प्रजाको लम्बे

अरसे तक परेशान नहीं कर सकता । और सुखी करनेके लिअे भी अगर अुसी प्रजाके लोगोंकी ज़रूरत रहती हो, (और वह तो हमेशा ही रहती है) तो धर्मात्मा राजा और महान् प्रधानमंडल भी चरित्र-शून्य प्रजाको लम्बे अरसे तक सुखी नहीं रख सकेगा ।

मगर जाँच करनेपर पता चलेगा कि हम अिससे अुल्टी श्रद्धाको लेकर काम करते हैं । हम मानते हैं कि सामान्य वर्ग भले बहुत ज़्यादा चरित्रवान न हो, मगर बहुत अच्छी तनख्वाहें वगैरा देकर हम शासकवर्गके लिअे अुसमेंसे अच्छे चरित्रवान व्यक्ति ज़रूर पा सकते हैं और अुनकी मार्फ़त जनहितकी योजनायें और कानून बनाकर प्रजाको सुखी कर सकते हैं । यह अैसी ही बात है जैसे कोअी कहे कि गँदले पानीमें थोड़ासा साफ पानी मिला देनेसे सारा पानी साफ हो सकता है । अैसा हो तो नहीं सकता, मगर सब जगह प्रचलित अिस श्रद्धाका नतीजा यह होता है कि शासित वर्ग अपनी सारी सुख-सुविधाओंके लिअे राज्यकी तरफ ही देखता है, खामियोंके लिअे अुसीको दोष देता है और जुदे जुदे पक्षोंके आन्दोलनोंका तथा दंगे करानेवालोंका शिकार बनता है । मानो चुनाव और जुलूस, परिषदें, समितियाँ, भाषण, हड़तालें और दंगे ही प्रजाकीय शासनके अंग हों । अितना होते हुअे भी अगर प्रजाओंके जीवनमें व्यवस्था रहती है, तो अुसका कारण राज्यके कानून या व्यवस्थाशक्ति नहीं, बल्कि अिन सारी धाँधलियोंके बावजूद प्रजाके मध्यम वर्गोंमें रहनेवाली स्वाभाविक व्यवस्थाप्रियता और शान्तिप्रियता है ।

२

राजकीय हलचलें और प्रथायें

यह सब पढ़कर अब पाठकका जी शायद अुकता गया होगा। अुसे लगता होगा कि अेक ही बातको मैं बारबार क्यों दोहराया करता हूँ! चरित्रकी आवश्यकताके सम्बन्धमें किसीका मतभेद ही कहाँ है, जो मुझे बारबार यह बात कहनेकी ज़रूरत पड़ती है? अिसे मानकर तथा अिसे मदद करनेके लिअे ही सारी राजकीय पद्धतियोंपर विचार होता है। कोअी समझदार आदमी सिर्फ राजकीय पद्धतियोंपर ही जोर नहीं देता। चरित्र हो तो, तथा चरित्र-निर्माणमें मददरूप होनेके लिअे कौनसी राजव्यवस्था और प्रथायें अच्छी हैं, अिसी पर विचार करनेकी ज़रूरत है।

यह विचार ही धोखेमें डालनेवाला है। जब चरित्रका पारा बहुत अुतर जानेसे मनुष्योंके दुःख अुत्पन्न हुअे हों, और राजकीय हलचलें तथा अुनमेंसे पैदा होनेवाली खुले रूपमें हिंसक या दिखाने भरके लिअे अहिंसक लड़ाअियाँ अिस चरित्रको हीनतर बनानेका ही काम करती हों, तब यह कहना कि चरित्रके महत्त्वको मानकर चला गया है, खुदको और दूसरोंको धोखा देना है, या कहिये कि अुसमें मानवके द्वेषभावसे पैदा होनेवाले चरित्रको मानकर चला गया है, सद्भावको नहीं। अुल्टे सद्भावकी कीमतके सम्बन्धमें सन्देहकी दृष्टि रही है। सारी राजकीय हलचलों और पद्धतियोंका प्रयत्न द्वेषका संगठन करनेके लिअे होता है, सद्भावका नहीं।

पिछली सदीकी शुरूआतके अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि हरअेक मनुष्य अर्थचतुर (अपने आर्थिक हितोंको बराबर समझनेवाला और सँभाल सकनेवाला — economic man) होता है। अिसपरसे अुन्होंने देश-देश तथा मालिक-नौकर वगैराके आपसी अर्थ-व्यवहारोंमें अदखल-गीरी (Laissezfaire)का वाद चलाया। आगे चलकर धीरे धीरे समझमें आया कि यह मान्यता गलत है, और अुसमेंसे विविध अर्थ-

व्यवहारोंमें राजकी दखलअन्दाज़ी करनेकी योग्यताका वाद अुत्पन्न हुआ। यह अब अिस हद तक बढ़ा है कि आर्थिक सम्बन्धोंमें मनुष्यके वर्तन-स्वातंत्र्यका बिलकुल अन्त ही हो जाता है। पहले वादने मान लिया कि मनुष्यमात्र अपने फायदेको समझता है और अुसे सँभालनेकी अुसमें स्वाभाविक शक्ति होती है; दूसरे वादकी मान्यता है कि बलवान पक्षमें ज्ञान और शक्ति तो होते हैं, मगर चरित्रका (यानी सद्भाव, न्याय वगैराका) अभाव होता है तथा कमज़ोर पक्षमें चरित्र होता है और ज्ञान तथा शक्तिका अभाव रहता है। ये सारी मान्यतायें गलत होनेसे ही मनुष्यके दुःख जैसेके तैसे ही रहे हैं।

अिसी तरह हम डेमॉक्रेसीकी, चुनावोंकी, राजकीय पक्षसंगठनकी, तथा अुन पक्षोंके कार्यक्रमोंकी चर्चा तथा नुक्ताचीनी करते हैं। मगर मूलमें रहनेवाली कमी पर कभी भी विचार नहीं करते। हमारी हलचलोंमें 'परस्पर रिझाकर परम श्रेय हासिल करने'* का नहीं, बल्कि 'परस्पर खिझाकर परस्पर श्रेय हासिल करने'का प्रयत्न होता है। सबको फ़ायदा पहुँचानेके लिअे अेकत्रित होना हमारे संगठनोंका ध्येय नहीं होता, बल्कि विरोधीको हराने-गिराने-लूटने-हैरान करनेके लिअे ही हम अिकट्ठे होते हैं और लोगोंको भी अुसमें शामिल करनेकी कोशिश करते हैं। विचार, वाणी, सभा, संस्था-रचना वगैरा सबकी स्वतंत्रताकी प्राप्तिके पीछे हमारा हेतु मानव-मानवके बीच सद्भाव बढ़ाना नहीं, बल्कि किसी विरोधी पक्षवालेके प्रति द्वेषभाव बढ़ाना होता है। कभी ये विरोधी पक्षवाले देशी या विदेशी शासकवर्ग होते है, कभी प्रतिद्वन्द्वी कोअी राजकीय पक्ष होता है और कभी प्रतिद्वन्द्वी अपने ही पक्षका राजकीय अुपपक्ष होता है।

हममें रहनेवाले अिस द्वेष और अविश्वासका असर हमारे विधानों और कानूनोंमें दिखाअी पड़ता है। कहा जाता है कि औरंगज़ेबका अैसा स्वभाव हो गया था कि वह किसीपर विश्वास ही नहीं कर सकता था। मगर सेनापति, मंत्री, सूबा वगैरा अधिकारियोंके बिना काम तो चल नहीं सकता था, अिसलिअे वह 'अ'को सेनापति बनाकर 'ब'को अुसपर

* परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता)

जासूसी करनेके लिअे अुपसेनापति नियुक्त करता था। अिस तरह अुसने हरअेक विभागमें अेक दूसरेके प्रतिपक्षियोंके जोड़ रख दिये थे। नतीजा यह हुआ कि कोअी भी पूरे आत्मविश्वास और हिम्मतसे काम ही नहीं कर सकता था; सभीको अपने काममें ढील करने और अेक दूसरेकी भूलें देखनेकी आदत पड़ गअी थी।

विचार करनेपर मालूम होगा कि हमारी सभी राजकीय व्यवस्थायें औरंगज़ेबी ही हैं। हम राजा रखते हैं, मगर वह सिर्फ शोभाका पुतला ही होता है; गवर्नर नियुक्त करते हैं, मगर वह अपने मंत्रिमंडलकी मर्जीके खिलाफ़ कुछ भी नहीं कर सकता; केन्द्रीय सरकार चाहती है कि ज़्यादासे ज़्यादा सत्ता अुसीके हाथमें रहे; प्रान्तीय सरकार चाहती है कि केन्द्रीय सरकारकी सत्ता निश्चित मर्यादामें ही रहे; हरअेक व्यक्ति सत्ताका लालची और दूसरेकी सत्ताके प्रति अीर्ष्या रखनेवाला होता है।

अैसे मानससे अुत्पन्न होनेवाली व्यवस्थायें अगर खर्चीली, दीर्घसूत्री, 'रेड टेपी', बोझीली और सिर्फ बाहरी शोभा रखनेवाली, छलकपट–निन्दा-अीर्ष्या–चुगलखोरी–रिश्वत–बैरभाव वगैरासे भरी हुअी हों, तो अिसमें कोअी अचरजकी बात नहीं है। अिनके चुनावोंमें सारी प्रजाका मताधिकार हो, चाहे थोड़ोंका; सीधा हो चाहे टेढ़ा; अैसे किसी ढंगका हो, जिसमें सभी वर्गोंके प्रतिनिधि योग्य प्रमाणमें चुने जा सकें, या सीधा-सादा हो, हर हालतमें ये प्रतिनिधि सिर्फ हाथ अूँचे करनेका ही काम दे सकते हैं, राजतंत्रको सुधारनेका काम अिनसे नहीं हो सकता। ये चाहे जैसे ज्ञान या चरित्रवाले हों, मगर जो थोड़े-बहुत अति चतुर व्यक्ति होते हैं, व्यवहारमें वे ही सारी सत्ता भोगते हैं। ये अगर अच्छे हुअे तो प्रजाका सुख पैसे दो पैसेभर बढ़ जाता है, और हीन वृत्तिके हुअे तो दुःखकी झड़ी लगा देते हैं।

डेमॉक्रेसीका व्यावहारिक अर्थ सिर गिनना ही रह गया है। कोअी यह तो कह ही नहीं सकता कि ज़्यादा सिर यानी ज़्यादा समझदारी; अिसलिअे जिस तरफ़ ज़्यादा सिर अूँचे हों, अुस तरफ़का निर्णय ज़्यादा समझदारीभरा होगा। सिर किस कामके लिअे अूँचे हुअे हैं, यही महत्त्वका

है, सिर्फ कितने सिर अूँचे हुअे यह नहीं। गँदले पानीके पाँच तालाबोंकी अपेक्षा साफ पानीकी अेक छोटी-सी झीरी ज़्यादा महत्त्वकी है।

मतलब यह है कि सिर्फ ज़्यादा सिरोंके अूँचे अुठनेसे सुख नहीं बढ़ जाता। अूँचे अुठनेवाले सिर योग्य गुणवालोंके होने चाहियें। अेक चाँद जितनी चाँदनी फैलाता है, अुतनी करोड़ों तारे मिलकर भी नहीं फैला सकते।

अिसके सिवा, डेमॉक्रेसीमें सिर्फ धारायें बनानेवालों और हुक्म निकालनेवालोंका ही चुनाव होता है। धाराओं और हुक्मोंपर अमल करनेवाले तो चुनावके क्षेत्रसे बाहर ही रहते हैं और अुनकी भरती अलग ही ढंगसे होती है। अगर अमलदारोंकी भरतीका तरीका अैसा न हो कि अुनमें सिर्फ़ अच्छे व्यक्ति ही लिये जा सकें, तो प्रतिनिधियोंके अच्छे होनेपर भी शासन-प्रबन्धमें ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ सकता।

अिसलिअे यह विचारना जितना महत्त्वपूर्ण है कि किस तरह अच्छे ही प्रतिनिधि और अच्छे ही अमलदार नियुक्त किये जा सकते हैं, अुतना यह नहीं कि किस तरह अमुक राजकीय पक्षका बहुमत हो सकता है और न यही कि सभी बातोंमें बहुमतसे ही निर्णय करना चाहिये।

७–११–'४७

३

चुनाव

चुनावों द्वारा हमारी डेमॉक्रेसी चलती है और सरकारी नौकरों द्वारा शासन चलता है। प्रतिनिधियोंके मुक़ाबले सरकारी नौकर राज्यतंत्रके ज़्यादा स्थिर अंग होते है। परिणाम स्वरूप प्रजापर अुनका ज़्यादा प्रत्यक्ष काबू होता है, और राज-कारबारका ज़्यादा अनुभव भी अुन्हींको होता है। यह सच है कि प्रतिनिधियोंकी अुनके अूपर सत्ता होती है, मगर अुनकी नियुक्ति अस्थायी और बारबार बदलनेवाली होनेसे, तथा नौकर ही अुनके हाथ-पॉव तथा ऑख-कान होनेसे, प्रतिनिधियोंके वाद और सिद्धान्त बहुत बार अपनी जगह धरे रह जाते हैं और प्रत्यक्ष कारबार नौकरोंकी सलाह और मतके मुताबिक ही चलता रहता है। अुसमें भी फिर सबसे छोटे नौकर और सबसे बड़े नौकरके बीच जितने ज़्यादा दरजे होंगे, सुधारके प्रयत्नोंका असर प्रजातक पहुँचनेमें अुतनी ही ज़्यादा कठिनाअी होगी।

अिसलिअे अगर हमें सु-राज्य कायम करना है, तो चुनाव और भरती दोनोंके सम्बन्धमें हमारा दृष्टिकोण साफ होना ज़रूरी है।

चुनावों द्वारा हम प्रजाके प्रतिनिधि पसन्द करनेकी कोशिश ज़रूर करते हैं, मगर यह चुनाव करनेमें हमारा जो दृष्टिकोण होता है, अुसकी योग्यताके सम्बन्धमें हमने कभी पूरी तरह विचार नहीं किया।

विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि चुनावमें हरअेक मतदाता '**अपने**' व्यक्तिको मत देता है। अिस व्यक्तिके '**अपना**' होनेके विविध कारण होते हैं; जैसे कि वह अपना आश्रयदाता या अुसका नियुक्त किया हुआ हो, या अपनी जातका, गाँवका, प्रान्तका, धर्मका, पक्षका, धन्धे वग़ैराका हो, तो वह '**अपना**' व्यक्ति बन जाता है। अुसे चुनकर भेजनेमें मतदाताकी अपेक्षा यह होती है कि वह सारी जनताके

नहीं, बल्कि अुसके वर्गके हित या स्वार्थकी रक्षा करनेमें ज़्यादा सावधान रहेगा। और जिस कड़ीके योगसे वह '**अपना**' कहलाता है, अुस कड़ीको और अुसके सभी व्यक्तियोंको दूसरोंकी अपेक्षा ज़्यादा फायदा पहुँचायेगा।

चुने जानेका अुम्मीदवार प्रतिनिधि भी अपने मतदाताओंको अिसी तरहकी आशायें बँधाता है। 'मुझे भेजोगे, तो **आपके** लिअे मैं अमुक हासिल करनेकी कोशिश करूँगा, और आपके विरोधियोंको अमुक ढंगसे चित्त करूँगा।'

अिस तरह प्रतिनिधि तथा मतदाता **अपने** पक्षके स्वार्थका ही विचार करके सु-राज्य क़ायम करनेकी आशा रखते हैं। यह मध्यकालीन श्रद्धा अभी भी हमारे चुनावोंमें काम कर रही है कि अगर सभी मनुष्य अपने अपने स्वार्थ सँभालें, तो सबका स्वार्थ सिद्ध हो सकता है।

दरअसल यह श्रद्धा ही अनर्थों और झगड़ोंकी जड़ है। चुनावकी यह प्रथा पंचनियुक्त करनेकी पद्धतिका नहीं, बल्कि वकील नियुक्त करनेकी पद्धतिका अनुसरण करती है। '**अ**' और '**ब**' के बीच अगर झगड़ा हो, तो दोनों **अपने** वकील नियुक्त करते हैं। वे न्यायाधीशके सामने अपने मुवक्किलोंके स्वार्थोंको पेश करते हैं। अिसमें वे अपने विरोधीके हितोंका विचार नहीं करते। दोनोंके विरोधी स्वार्थोंपर विचार करके अिन्साफ़ करनेकी ज़िम्मेदारी न्यायाधीश पर होती है। अिस न्यायाधीशको अगरचे **अ** और **ब** ने ही नियुक्त किया हो, फिर भी अुससे यह आशा नहीं की जाती कि वह किसी अेकके ही स्वार्थका खयाल रखेगा; बल्कि अुससे यही अपेक्षा रखी जाती है कि वह किसी अेकका व्यक्ति नहीं बनेगा और दोनोंके स्वार्थों और विरोधोंका विचार करके ही अिन्साफ़ देगा।

अिस तरह यह सच है कि अदालतमें पार्टियोंके अपने अपने प्रतिनिधि होते हैं; मगर निर्णय देनेका अधिकार अिन प्रतिनिधियोंको नहीं, बल्कि अिन दोनोंसे भिन्न किसी अेकका प्रतिनिधित्व न करनेवाले **सबके** मान्य प्रतिनिधिको होता है। यह सर्वमान्य प्रतिनिधि अेक ही व्यक्ति हो चाहे बहुतसे हों, हरअेकसे ग़ैर-तरफ़दार होनेकी आशा रखी जाती है; अगर वह किसीके पक्षका हो या किसीकी तरफ़दारी करे, तो यह अुसका दोष माना जाता है।

अैसा होनेके बदले अगर किसी मुकदमेमें सभी वादी-प्रतिवादियोंको अपने-अपने वकील नियुक्त करनेकी सुविधा हो और अुन वकीलोंपर अपने अपने मुवक्किलोंका हित साधनेकी जिम्मेदारी होते हुअे भी, वे बहुमतसे जो निर्णय दें वही अन्तिम फ़ैसला माना जाय, तो अिन्साफ़की शकल क्या होगी? स्पष्ट है कि अगर वादी-प्रतिवादी अेक अेक ही हो, तो (जैसा कि पंजाब और बंगालके पंच-बँटवारेमें हुआ) ज़्यादातर गतिरोध ही होगा; और अगर अुनकी तादाद कम-ज़्यादा हो, तो जिस पक्षकी तादाद बढ़ जाय, अुसके हक़में फैसला होगा। फिर गतिरोध हटानेके लिअे किसी तीसरे रैडक्लिफ़को सरपंच नियुक्त करना पड़ेगा और अगर वह बुरा अिन्साफ़ करे तो भी सबको कबूल करना होगा।

अैसी न्याय-पद्धति बुरी होती है, अिसे स्वीकार करनेमें किसीको देर नहीं लगेगी; मगर विचार करने पर मालूम होगा कि हमारी सभी प्रतिनिधि सभायें अलग अलग पक्षोंके वकीलोंकी मजलिसें ही होती हैं, गैरतरफ़दार न्यायाधीशोंकी बैठकें नहीं। क्योंकि प्रतिनिधि भेजनेवालोंको हम यही कहते हैं कि हरअेक मतदाता '**अपने**' आदमीको मत दे; यह नहीं कहते कि सब मिलकर लगभग सर्वमान्य या लगभग किसीको अमान्य न हो अैसे ही निष्पक्ष, चरित्रवान और व्यवहार कुशल आदमियोंको पसन्द करें। अिससे जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं, वे सबके पंच नहीं, बल्कि अेक या दूसरे पक्षके वकील ही होते हैं और पक्षोंके नियमोंके मुताबिक अुनपर अपने पक्षके खिलाफ कोअी भी निर्णय (मत) न देनेकी ज़िम्मेदारी डाल दी जाती है। अैसी सभा जो कुछ निर्णय करे या कानून वग़ैरा बनाये, वे वकीली अदालतके हुक्मनामे जैसे माने जा सकते हैं, न्यायालयके हुक्मनामे जैसे नहीं। क्योंकि अिन प्रतिनिधियोंको अपने पक्षको छोड़नेकी ज़रा भी स्वतंत्रता नहीं होती। ये अध्यक्ष हों, चाहे मंत्री, अपने पक्षके बन्धनोंसे कभी छूट नहीं सकते।

अैसी हालतमें भी अगर स्थिर सु-राज्य थोड़ा बहुत रह सकता है, तो अुसका कारण 'डेमॉक्रेसी' नहीं, बल्कि यह सत्य है कि मनुष्य अपनी मनुष्यताको पूरी तरहसे छोड़ नहीं सकता।

जिस तरह बड़े मुकदमोंमें अलग अलग पक्षोंको अपने अपने वकील नियुक्त करनेकी सुविधा भले हो, मगर फैसला करनेवाले न्यायाधीश अलग ही होते हैं, और वकीलमंडलको कोअी अदालत नहीं कहता, बल्कि न्यायाधीश ही अदालत माने जाते हैं, अुसी तरह राजसभामें प्रजाके अलग अलग पक्षों या हितोंके प्रतिनिधियोंकी निवेदक सभा भले हो, मगर किसी सर्वमान्य पद्धतिसे नियुक्त की हुअी निष्पक्ष, व्यवहारकुशल और चरित्रवान व्यक्तियोंकी निर्णायक सभा अलग होनी चाहिये। मतदाताओंसे कहना चाहिये कि '**अपने**' आदमियोंको चुननेके बाद वे अपने पक्षसे बाहरके (दूसरे पक्षके हों, या किसी भी पक्षके नहीं, अैसे) लोगोंमेंसे जिन्हें गैरतरफ़दार, न्यायी, व्यवहारकुशल और चरित्रवान समझते हों, अुन्हें मत दें; और अन्तिम निर्णय करने और अुनपर अमल करनेकी सत्ता अुनके हाथोंमें रहे। यानी, यह सभा पहली सभासे छोटी ही रहे।

पक्षोंके प्रतिनिधियोंके बहुमतसे नहीं, बल्कि निष्पक्ष पंचोंके भारी बहुमतसे ही सु-राज्य कायम कर सकना ज़्यादा सम्भव है। अिसलिअे निष्पक्ष पंच नियुक्त करनेकी कोअी प्रथा जारी की जानी चाहिये।

पक्षोंके राज्यको प्रजाका राज्य — डेमॉक्रेसी — कहना "वदतो व्याघात" जैसा है। प्रजा द्वारा मान्य पक्षातीत राज्य डेमॉक्रसी कहा जाय चाहे न कहा जाय, यह सु-राज्य — यानी प्रजाका, प्रजाके लिअे, प्रजा द्वारा संचालित राज्य — ज़रूर होगा।

८–११–'४७

४

सार्वजनिक ओहदे और नौकरियाँ

कनक त्यजि, कामिनी त्यजि, त्यजि धातुनको संग।
तुलसी लघु भोजन करी, जिवत मानके रंग ॥

मनुष्यको अगर सत्ता और प्रतिष्ठाका लाभ ही मिलता हो, तो भी वह अुसके प्रलोभन और चरित्रकी शिथिलताके लिअे काफ़ी होता है। फिर यदि अिनके साथ अुसे कअी तरहके आर्थिक लाभ और सुख-सुविधायें भी मिलें, तब तो कहना ही क्या ? जाँच करनेपर हम देखेंगे कि हमारी हरअेक चुनी हुअी सभाके सभासद होनेसे या अूँची नौकरी पानेसे हमें कअी किस्मके आर्थिक लाभ और सुख-सुविधायें मिलती हैं। किसी भी जाहिर कमेटीका सभासद होनेवालेको या बड़े सरकारी अधिकारीको न तो गाँठसे पैसे खरचने पड़ते हैं, न असुविधायें भोगनी पड़ती हैं। सौमेंसे अेक दो आदमी अैसे होंगे जिनकी निजी कमाअी पहलेसे कुछ घट जाती होगी; मगर ज़्यादातर लोगोंके लिअे तो यह फायदेमन्द रोज़गार ही बनता है। अैसी हालतमें अगर सारी सार्वजनिक संस्थायें गुटबन्दीके अखाड़े बनें और शासन रिश्वतखोरों और सिफारिशी लोगोंके हाथमें चला जाय, तो अिसमें आश्चर्य किस बातका ?

सार्वजनिक कामके साथ सत्ता और प्रतिष्ठा तो रहेगी ही; मगर अुसके साथ धन और सुख-सुविधाकी प्राप्ति मुश्किल होनी चाहिये, वह आसान और आकर्षक तो कतअी नहीं होनी चाहिये। अैसी संस्कारिता अुत्पन्न होनी चाहिये जिससे अूँचे ओहदेका सम्बन्ध भारी दबदबा, शृंगार, नाच-नाटक-चाय-खाना-नशेबाज़ी (कॉकटेल) के सम्मेलन वगैरासे होनेके बदले सादगीके साथ हो। अिन ओहदेदारोंका रहन-सहन अिनका और अिनके परिजनोंका आतिथ्य करनेवालोंके लिअे सादे जीवनका नमूना और भार रहित होना चाहिये; वह आडम्बर बढ़ानेवाला,

दौड़धूप करानेवाला, और खर्चीला न बने। अेक चारसौ-पाँचसौ रुपये माहवारकी आमदनी पर गुज़र करनेवाला तथा बालबच्चोंवाला मध्यम श्रेणीका गृहस्थ शहरमें जिस दरजेका जीवन बिता सकता है, अुससे किसी बड़ेसे बड़े अधिकारीके जीवनका और रहन-सहनका दरजा अूँचा नहीं होना चाहिये। अिसे मध्यमश्रेणीका अेक माप कहा जा सकता है। पेशवाअी ज़मानेके प्रसिद्ध न्यायाधीश रामशास्त्री जैसे विरल पुरुषका दरजा तो अिसे नहीं ही कहा जा सकता, मगर यह मर्यादा निभानेवाले दुनियावी आदमीका दरजा ज़रूर है। अिसकी निजी तथा सार्वजनिक सेवाके चंदोंसे होनेवाली आमदनी अैसी मर्यादित रहनी चाहिये कि वह अितना ही खर्च निभा सके। जिसका जीवन अिस दरजेसे अूँचा जाय अथवा सेवाके दरमियान जिसकी मिल्कियत बढ़े, अुसके विषयमें यह सन्देह होनेका कारण है कि अुसे दूसरी भी कोअी आमदनी होती होगी। अगर यह आमदनी व्यक्तिगत भेंटके बढ़नेसे होनेवाली खर्चकी बचतकी बदौलत हो, तब भी अुसे अनुचित ही समझना चाहिये। राष्ट्रमें चाहे जितना अूँचा दरजा हो, अुसके जीवनका दरजा अेक मध्यम मर्यादासे अूपर नहीं जाना चाहिये। सरकारी ओहदेदारोंकी अुच्चतम आमदनी तथा मिल्कियतकी मर्यादा राष्ट्रके लिअे व्यक्तिगत आमदनी तथा मिल्कियतकी सामान्यरूपसे ठहराअी हुअी अुच्चतम मर्यादासे नीची होनी चाहिये। तथा अैसी परम्परा कायम होनी चाहिये कि जिसकी व्यक्तिगत मिल्कियत तथा आमदनी पहलेसे ही अिससे ज़्यादा हो, वह विना तनखाह लिये सेवा करना अपना फ़र्ज़ समझे।

अीस्ट अिण्डिया कम्पनीके ज़मानेसे लेकर आज तक 'भत्ता' बहुत बड़ी आमदनीका अेक साधन बना हुआ है। खर्च न किया हो, अुल्टे प्रजाने ही खर्च किया हो, फिर भी ठहराये हुअे दरसे 'भत्ता' लेनेमें किसीको भी अप्रामाणिकता नहीं मालूम होती। और सरकारके हिसाबी विभागोंने भी हिसाब रखनेमें मेहनत न बढ़े अिस खयालसे निश्चित दरसे कम भत्ता न देनेकी प्रथा डाल दी है। अगर दिल्लीकी लोकसभामें जानेके लिअे पहले दरजेका किराया और तीस रुपये प्रतिदिनका भत्ता ठहराया गया हो, तो हरअेक सदस्यको यह रुपया ज़रूर ही लेना होगा, फिर अिसके मुताबिक अुसका खर्च हुआ हो, चाहे न हुआ हो। अगर किसी

सदस्यको अिसमेंसे निजी लाभ न लेना हो, तो वह अिस बचतका कहीं दूसरी जगह भले दान कर दे, मगर सरकारी तिजोरीमें तो अितना वाअुचर अवश्य ही कटेगा। अिसका मतलब यह हुआ कि भाड़े-भत्तेके नामपर अिस व्यक्तिको निजी आमदनी करनेका मौका दिया जाता है। जिस तरह अेक काम करनेके लिअे सौ रुपयोंका ठेका दिया गया हो, तो अुस ठेकेदारको अिस बातकी छूट होती है कि वह अपनी होशियारीसे बचत करके जितनी कमाअी करना चाहे अुतनी कर सकता है, अुसी तरह ओहदेदार मानो देशकी सेवा करनेवाले ठेकेदार हों और अुन्हें अपनी तनखाह, भत्ते और किरायेमेंसे अपनी होशियारी और काटकसरसे बचत करके कमाअी करनेकी छूट हो !

अिस प्रथाका परिणाम सुराज्य नहीं हो सकता, फिर भले अिसमें दसपांच अत्यंत त्यागी और निःस्पृह व्यक्ति अकस्मात आ गये हों। मगर दूसरे ओहदेदार अैसे व्यक्तियोंको आदर्श या आदरणीय माननेके बजाय अुलटे अुनकी हँसी और निरादर करते हैं।

हमारी जाति–भाषा–संप्रदाय पर रची हुअी समाज-व्यवस्थाका अेक बड़ा अनिष्ट फल सार्वजनिक नौकरियों और ओहदोंमें 'वर्ग-प्रतिशत-विवाद' (rule of communal proportion) है। हरअेक वर्गको हरअेक महत्त्वकी नौकरी और ओहदेमें अमुक प्रतिशत भाग (परसेण्टेज) मिलना चाहिये, यह आग्रह सुराज्य कायम करनेमें बाधक है। मगर अेक लम्बे अरसेसे हमारे समाजका गठन ही अैसा हो गया है कि अगर अिस माँगपर बिलकुल विचार ही न करें, तो वर्गके कअी भागोंको कभी बड़ी जवाबदारी अुठानेका मौका ही न मिल सके और कअी जगहें अमुक वर्गके अिजारे जैसी ही बन जायँ। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि जबसे ये परिणाम निकलने प्रारम्भ हुअे हैं, तभीसे ये माँगें भी पैदा होने लगी हैं।

अिस सम्बन्धमें थोड़े समयके लिअे भले ही कोअी 'समाधान' स्वीकार कर लिया गया हो, मगर यह वस्तु अनिष्ट है। सारे ओहदों तथा नौकरियोंके लिअे व्यक्तियोंका चुनाव करनेमें दो ही बातें ध्यानमें रखनी चाहियें — अेक तो यह कि अुस व्यक्तिका चरित्र कैसा है और दूसरे अुसको अुस कामकी कितनी जानकारी है। जो वर्ग चरित्र और शिक्षण

वगैरामें पीछे रह गया हो, अुसे अुन्हें हासिल करनेकी खास सुविधायें देना और दूसरोंकी बराबरीमें लाना अेक बात है; मगर जिस कामके लिअे वे अयोग्य हों, अुसमें भी अुन्हें कृत्रिम फी-सदीके नियम (परसेण्टेज) के आधार पर लेना ही पड़े, तो अिसे कुराज्यका ही अचूक साधन कहा जा सकता है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि अूँचे ओहदे तथा नौकरीके साथ ज़्यादा धन और सुख-सुविधाओंका मिलना भी 'परसेण्टेज-विवाद'का अेक कारण है। भंगीकी नौकरीमें भंगियोंका ही अिजारा है, मगर अिसके लिअे किसी दूसरे वर्गके लोग यह माँग नहीं करते कि 'हमें हमारी तादादके मुताबिक परसेंटेज मिलना चाहिये'! भंगियोंके अिन्स्पेक्टरकी जगहके लिअे ज़रूर होड़ लग सकती है! भंगीकी नौकरीका अिजारा अिसलिअे सुरक्षित है कि अिसके साथ न तो अधिकार जुड़ा हुआ है, न प्रतिष्ठा जुड़ी है और न आकर्षक आर्थिक लाभ या जीवनकी सुख-सुविधायें ही जुड़ी हैं। या अगर कहो कि ये सब हैं, तो सबेरेसे अैसी आज्ञायें (!) देना कि 'दादा, पानी डालना', 'दादा, दूर रहना' अुनका अधिकार है, ग्रहणके दिन 'सोनादान, रूपादान, वस्त्रदान' वगैरा बेश-कीमती चीज़ें माँगकर फटे-टूटे-मैले-अुतरे हुअे चीथड़े अिकट्ठे करना प्रतिष्ठा है, कोअी भी करनेकी अिच्छा तक न करे अैसी सेवा बजाकर महीनेमें फ़ी संडास चार आनेसे लगाकर रुपये-दो रुपये तक पाना अुनका आर्थिक लाभ है और फी आदमी आठ आने या अेक रुपया किराया देकर अेक छोटीसी कोठरीमें दस बारह आदमी अिकठे रहना सुख-सुविधा है!

अैसे कअी दूसरे भी — हलकारे, हमाल वगैराकी नौकरियोंके स्थान अमुक वर्गके अिजारे जैसे होंगे, मगर अुनके लिअे दूसरे वर्गवाले 'परसेण्टेज' की आवाज़ नहीं अुठाते।

अूपरके अिजारे हिन्दू समाज-व्यवस्था द्वारा स्वयं निर्माण किये हुअे अंत्यजों — भंगियों — के लिअे सुरक्षित (?) हैं। अेक मतके अनुसार अंत्यज प्रतिलोम वर्णसंकरतासे (अूँची जातिकी स्त्रीका नीची जातिके पुरुषसे विवाह होनेसे) अुत्पन्न हुअी प्रजा हैं। अंग्रेजोंने भी यहाँ आकर वर्णसंकर प्रजा निर्माण की और हिन्दुओं जैसे ही अूँचेपनके अभिमानसे अुन्हें अपनेमेंसे

निकले हुअे अंत्यज माना। यह अेंग्लोअिण्डियन प्रजा कहलाअी। हिन्दुओंकी ही तरह अुन्होंने अिनके लिअे कुछ नौकरियाँ सुरक्षित कर दीं। अंग्रेजोंमें अिनका स्थान अछूतों जैसा ही है। मगर वे चाहे जैसे अंत्यज हों, फिर भी आखिर राज करनेवाली प्रजाके अन्त्यज ठहरे, अिसलिअे अुनकी खास नौकरियाँ अैसी तो हैं ही कि जिनके लिअे कुलाभिमानी वर्णोंके मुँहमें भी पानी छूटे! अिससे भंगीका अिजारा जिस तरह सुरक्षित रहा अुस तरह अुनका नहीं रह पाया और अब तो वह खतम ही हो गया है। अगर भंगीकी नौकरी करनेवालेको सौ रुपयोंसे चारसौ रुपयों तककी तनखाह, फी कुटुम्ब तीनसे छः कमरोंका ब्लॉक, खास वरदी (युनिफॉर्म) और प्रजासे सफाअीके नियमोंका पालन करानेके लिअे कुछ अधिकार दिये जायँ, तो अिस धन्धेके बारेमें भी 'परसेण्टेज'का सवाल अुठ खड़ा हो!

अेक दूसरी व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह प्रश्न विचारने लायक है। प्रजाके अर्थ-अनर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले जुदे जुदे विषयोंपर ज्यों ज्यों ध्यान जाता है, और अुनका खास अभ्यास और काम करनेवाले मनुष्य पैदा होते जाते हैं, तैसे तैसे अेक अेक विषय अेक अेक अलग खाता बनता जाता है, और गाँवसे लगाकर अखिल भारतीय सरकारी तंत्र खड़ा करना पड़ता है। अैसे हरअेकके लिअे अखिल भारतीय प्रान्तीय वगैरा जुदे जुदे खास अधिकारी नियुक्त करनेकी ज़रूरत पड़ती है। आज अधिकार और तनख्वाहका जैसा मेल है, अुसके परिणाम स्वरूप [illegible] अेक खाता खड़ा करनेमें खर्चका आँकड़ा अितना बढ़ जाता है कि [illegible]ने पगड़ी भारी हो जाती है; और ज़्यादातर सिर्फ़ पत्र-व्यवहार, [illegible]लों, कमेटीकी बैठकों, ठहरावों और वाअुचरोंके कागज ही बढ़ते हैं। अिनके सिवा प्रत्यक्ष प्रगतिमें ज़्यादा तेज़ी नहीं आती। फिर भी, यह सब किये बिना नहीं चलता। अिसकी अुपयोगिता और ज़रूरत रहती ही है। और जैसे जैसे प्रजाकीय प्रवृत्तियाँ बढ़ती जायेंगी, वैसे वैसे अैसे सैकड़ों खाते बनते जायेंगे। अिस कामको अगर बड़े अधिकारके साथ बड़ी तनखाह, बड़ा बंगला वगैरा द्वारा ही पूरा करना आवश्यक हो, तो हम समाजवादकी चाहे जितनी बातें करें, यह विषमता, भूख, गरीबी, बेकारी और अुनके परिणाम स्वरूप होनेवाले नये नये रोग, और रिश्वत, कालाबाजार, लूटमार,

चोरी तथा किसी न किसी बहाने छुरेबाज़ी, दंगे, आपसी युद्ध (सिविल वार) वग़ैरा हुअे बिना नहीं रहेंगे; और नियुक्तियोंमें कुशलताकी नहीं, बल्कि पक्ष, सिफारिश, जातपाँत वग़ैराकी ही मुख्यता रहेगी। यह अैसी ही बात है, जैसे अनाजकी तंगी कम करनेके लिअे कोअी दूध-घी, पेड़े-बरफी, अनार-मोसम्बी खाकर अकालका सामना करनेके लिअे कहे। और यह अिस बातका सबूत है कि आज सचमुच ही अैसी सलाह दी जाती है।

क्लाअिवके ज़मानेसे ही सार्वजनिक नौकरियोंमेंसे रिश्वत वग़ैराकी बुराअियाँ दूर करनेके अुपायोंपर विचार किया जाता रहा है। फिर भी ये बुराअियाँ कम नहीं हुअीं, अुल्टे प्रगति ही करती रहीं। अिसका कारण यह है कि अिसके अुपाय अिस मान्यतापर रचे गये हैं कि आगमें भरपूर घी डालनेसे अुसकी भूख बुझ जायेगी या अिन्द्रियोंको भरपूर विषय-सेवन मिलनेपर वे शान्त हो जायेंगी। या फिर लोगोंका यह खयाल है कि ज़िन्दगी भर चूहे मारनेके बाद ढलती अुम्रमें तीर्थ करनेके लिअे निकलनेवाली या बच्चोंको निरामिष भोजनका अुपदेश देनेवाली बिल्लीकी तरह अुपदेश दे देनेसे ही यह काम हो जायगा। अेक बनिये व्यापारीके यहाँ बनिया ही मुनीम है, व्यापारी सटोरिया है और सट्टेके सौदे अिस मुनीमकी मारफत ही होते हैं। मुनीम हर दिन देखता है कि बाज़ारमेंसे जो भाव सुन-सुनकर वह सेठके पास पहुँचाता है, अुसपरसे खरीद-बिक्री करके सेठ लखपती बनता है। मुनीम खुद भी सेठका ही जातिभाअी है। अुसकी रगोंमें भी वही खून बहता है। अुसके मनमें क्यों न हो कि थोड़ा सट्टा करके मैं भी तेज़ीसे रुपया बनाअूँ? मगर नसीब अुसका साथ नहीं देता और वह नुकसानमें पड़ जाता है। सेठके पैसे अुठा लेता है, और वह मुनीमके असन्तोष और अप्रामाणिकतापर तिरस्कार भरा प्रवचन करता है! अब सोचिये कि मुनीमके दिल़पर अिस बातका कितना असर पड़ेगा? यही हाल रिश्वतकी बुराअी दूर करनेकी कोशिश करनेवालोंका है। वे तीन तरहके अुपाय काममें लाते हैं। अेक तो सज़ाके कानूनोंको और भी सख्त कर देनेका; दूसरा, रेड-टेप तथा जासूसीका

जाल बिछाकर निगरानी रखनेका; और तीसरा, तनखाह, भत्ता वगैरा बढ़ाकर अुन्हें सन्तुष्ट करनेकी कोशिश करनेका ।

मगर कायदे जितने ही सख्त होते हैं, अुन्हें निष्फल करनेके अुतने ही रास्ते भी निकल आते हैं; अुसके बाद पुलीस और मजिस्ट्रेट द्वारा रिश्वत वगैराके कानूनोंपर अमल करवाना वैसा ही है, जैसे डबलिया कैदी द्वारा किये गये जेलके किसी कसूरका न्याय डबलिया कैदियोंकी पंचायतसे ही कराया जाय।

दूसरा अुपाय अितना खर्चीला, अितना ढीला, शिथिलता बढ़ानेवाला और प्रजाके लिअे अितना असुविधाजनक है कि प्रजा खुद ही रिश्वतको अुत्तेजन देने लगती है। अगर चार आनेकी रिश्वत देनेसे अेक काम पाँच मिनटमें हो सकता है और ये चार आने बचानेसे पाँच महीने तक रोज़ाना चक्कर खानेसे भी कोअी सुनवाअी नहीं होती, और रेड-टेपिंग बढ़ता ही जाता है, डाकखर्च भी बढ़ता है, तो साधारण प्रजा अगर रिश्वतका रास्ता न ले तो क्या करे? चार आनेकी रिश्वत अगर पाँच मिनटमें काम करा सकती है, तो अिसका मतलब यह हुआ कि ज़्यादा रेड-टेपिंग अनावश्यक ही होता है; मगर कानून अुसे बढ़ानेकी सुविधायें देता है, और अधिकारी जानबूझकर अपनी सत्ताका अुपयोग नहीं करते।

तीसरा अुपाय तो घी डालकर आग बुझानेकी कोशिश करने जैसा है। अुसमें भी फिर खूबी यह होती है कि यह अुपाय सबसे छोटे और सबसे बड़े नौकरके बीचका अन्तर आर्थिक रूपमें बढ़ाता ही रहता है। मान लीजिये कि अधिकारियोंकी तनखाह वगैरामें अुचित बढ़ती करनेसे अुनका गलत रास्तेसे कमानेका लोभ कम होगा और अिस मान्यताके साथ अुनकी तनखाहें नीचे दिये अनुसार बढ़ा दी जाती हैं:

ग्रेड	मूल तनखाह	बढ़ती प्रतिशत	नयी आखिरी तनखाह	पुराना फ़र्क़	नया फ़र्क़
१	५० तक	२०	६०	—	—
२	५१–२००	१५	२३०	१५०	१७०
३	२०१–१०००	१०	११००	८००	८७०
४	१००१–३०००	५	३१५०	२०००	१९५०
५	३००१–६०००	२	६१२०	३०००	२९७०

अिसमें अूपरसे तो जान पड़ता है कि ज्यों ज्यों ग्रेड बढ़ता जाता है, त्यों त्यों बढ़तीका प्रतिशत तेजीसे घटता जाता है; मगर हरअेक ग्रेडके आखिरी आदमीकी और अुसके बादके ग्रेडके आखिरी आदमीकी आमदनीके बीचके पुराने और नये फ़र्ककी जांच करें, तो पता चलता है कि बिलकुल अन्तिम दो ग्रेडोंमें ही दो ग्रेडके आदमियोंकी आमदनीका फ़र्क थोड़ा कम हुआ है। यह तो अेक काल्पनिक अुदाहरण है। दरअसल तो ज्यों ज्यों ग्रेड बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अेक या दूसरे अलाअुन्सके रूपमें आमदनीका सच्चा आँकड़ा हरअेक सुधारके साथ बढ़ता ही जाता है। अूँचे ग्रेडके अधिकारियोंको बहुत बार दो-तीन खातोंके अधिकार सौंप दिये जाते है। अुस वक़्त अुन्हें अुनके ग्रेडकी तनखाहके अलावा खातेवार खास अलाअुन्स भी मिलते हैं। अुदाहरणके लिअे सिविल सर्जन अगर जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी हो, डॉक्टरोंके अिन्सपेक्टर जनरलको जेलोंका बड़ा अधिकारी भी बना दिया जाय, तो अुसे अपनी तनखाहके अलावा दूसरे पदोंके खास अलाअुन्स भी मिलते हैं। अगर अैसी मान्यता न हो कि सारे काम अर्थविनिमयसे ही कराने चाहियें, तो अिस बातको समझना ही कठिन जान पड़े। अिक़रारके कायदेका यह सिद्धान्त है कि बदले (consideration) के बिना अिक़रार रद माना जाता है, अिसी तरह भत्तेके बिना अधिकार रद है! अिसलिअे चीफ़ सेक्रेटरी अगर चार दिनोंके लिअे गवर्नरका ओहदा सँभाले, तो अुन चार दिनोंके लिअे अुसे खास भत्ता देना चाहिये! जैसे अिन चार दिनोंमें वह पैसेसे ज़्यादा घिस जानेवाला हो! अधिकार और तनखाह-भत्तेके सम्बन्धकी कल्पना 'जीव और श्वासकी सगाअी' की तरह की गअी है। अिस कल्पनामेंसे छूटना ज़रूरी है, और यह सिर्फ नियम बदलनेका सवाल नहीं है, बल्कि पुरानी परम्परायें बदलने और चरित्र-वृद्धिका सवाल है।

१२-११-'४७

जड़मूलसे क्रान्ति

भाग चौथा

तालीम

१
सिद्धान्तोंका निश्चय

साफ़ है कि क्रान्तिका विषय अन्तमें जाकर तालीमसे जुड़ा हुआ है। प्रजाके धार्मिक विचार, सामाजिक आचार-विचार, भाषा-साहित्य-कला-अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला पुरुषार्थ, राजकीय संस्थायें वगैरा चाहे जिसे लें, हरअेकके अुद्देश्योंके अनुसार प्रजाकी व्यवस्थित तालीमकी योजना की जानी चाहिये। तालीममें चाहे केवल लेखन-वाचन और गणितका ही समावेश किया जाय, फिर भी अुसमें भाषा और लिपिका निश्चय पहले होना चाहिये। भाषा यानी सीखनेवालेकी घरेलू भाषा (मातृभाषा या स्वभाषा) को ही लें और अुसीका आग्रह रखें, तो अुसमेंसे भी अनेक कठनाअियां खड़ी होती हैं। हर प्रान्तमें बोलचाल — व्यवहारकी अनेक भाषाओं (बोलियों) और साहित्यिक — शिक्षणकी भाषाका फ़र्क़ करना ही पड़ता है। दूरके अेकाध छोटेसे शहरमें भी दो चार गुजराती, दो चार मारवाड़ी, दो चार विविध प्रादेशिक बोलियां बोलनेवाले हिन्दी, दो चार दक्षिण भारतकी कोअी भाषा बोलनेवाले, और दो चार मराठीभाषी परिवारोंका मिल जाना असम्भव नहीं है। और यह भी सम्भव है कि शहरकी सामान्य जनताकी बोली कोअी साहित्यिक भाषा न हो (जैसे कि, मालवा या निमाड़ — खंडवा, बुरहानपुर वगैरा, या गया, भागलपुर वगैरामें देखा जाता है।)। मारवाड़ी, कोंकणी वगैरा कुछ भाषायें आज अैसी मध्यम स्थितिमें हैं कि अुन्हें साहित्यिक भाषाओंमें स्थान देने न देनेके सम्बन्धमें ज़बरदस्त खींचतान मची हुअी है।

फिर विविध भाषाओंका सम्बन्ध जुदी जुदी लिपियोंके साथ जुड़ा हुआ है। भले ही लिखना-पढ़ना जाननेवाले सौ पीछे आठ दस ही हों, और कहीं कहीं तो अितने भी नहीं होंगे, फिर भी जो थोड़ेसे लोग लिख-पढ़ सकते हैं अुन्हें जिस लिपिका मुहावरा और ममत्व है, तथा

जिसका साहित्य अुनके पास संग्रहीत है, वही लिपि अुस भाषाके साथ जोड़ दी जाती है।

अिस तरह हम सिर्फ अक्षर-ज्ञान और अंक-ज्ञानको ही तालीम समझ लें, फिर भी अुद्देश्यके निश्चयके बिना अुसकी योजना नहीं की जा सकती। किस भाषा और किस लिपिको चलाना है, अिसका निर्णय किये बगैर यह नहीं हो सकता। फिर अगर 'जीवनके विविध पहलुओंपर विचार करें, तो जीवनका अेक भी विषय अैसा नहीं है, जो तालीमके क्षेत्रमें न आता हो। अिस तरह तालीमका सवाल जीवन जैसा ही विशाल बन जाता है। अिसमें यह तो होगा ही कि अनेक विषयोंपर सबके अेकसे मत न हों, कअीके सम्बन्धमें यह निश्चयके साथ कहते न बनता हो कि अेक यही सच है और बाकी सब गलत ही है, कअी बार दो परस्पर-विरोधी विचारोंमें भी हरअेकमें सचाअीका अंश हो, और किसकी कितनी मर्यादा समझी जाय यही महत्त्वका सवाल हो, कअी विषयोंका महत्त्व स्थानीय और अमुक समयके लिअे ही हो, फिर भी अुतने स्थान और समयमें अुनकी अवगणना न की जा सकती हो; और कअी बातें लोगोंके राग-द्वेषके साथ अितनी घुल-मिल गअी हों कि अुनके सम्बन्धमें बुद्धिका प्रवाह औंधे घड़ेपर पानीकी तरह बह जाता हो। अिससे नेताओंमें भी मतभेद रहेंगे और अिसलिअे शायद ही अैसा होगा कि सबको सन्तोष देनेवाली तालीमकी योजना या पद्धति कभी गढ़ी जा सके। फिर भी चाहे जितने राग-द्वेष या ममत्वके बावजूद जिस तरह ५×३=१५ को स्वीकार करना ही पड़ता है, अिसमें १४ या १६ के लिअे गुंजाअिश नहीं रहती, अुसी तरह अगर हम विवेकबुद्धिका निरादर न करें, तो कुछ महासिद्धान्त सर्वमान्य होने लायक लगने चाहियें।

ये सिद्धान्त नीचे दिये अनुसार हैं:

१. मनुष्यसे मनुष्यको अलग करनेवाले कारण चाहे कुदरती हों, या मनुष्यके बनाये हुअे हों, टाले जा सकने लायक हों या न टाले जा सकते हों, तालीमका 'सिद्धान्त कहिये या अुत्तम जीवनका सिद्धान्त कहिये, यह होना चाहिये कि ये कारण तथा भेद ज़्यादा जड़ और पक्के करनेके बजाय कम और कमज़ोर किये जाने चाहियें। जीवनकी अनेक

बातोंके लिअे मनुष्यमें 'अस्मिता', 'अभिमान', 'ममत्व' वगैरा तो रहेंगे ही; मगर शिक्षणशास्त्रीका प्रयत्न अिन्हें संकुचित क्षेत्रमें रोक रखने और मजबूत करनेके बजाय अिनका क्षेत्र भरसक विशाल बनाने और अुसकी पकड़को ढीली करनेवाला होना चाहिये।

२. भूतकालको जैसेका तैसा या कुछ बदले हुअे रूपमें फिरसे लाना जीवनका ध्येय नहीं होना चाहिये। अुसी तरह तालीमका यह प्रयत्न भी नहीं होना चाहिये कि द्वेषबुद्धिसे भूतकालके किसी भागकी याददाश्त या निशानीको मटियामेट कर दे। अुसे तो भविष्यके नये अुज्ज्वल चित्र निर्माण करके, ध्येयके रूपमें अुन्हें प्रजाके सामने रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। यह मान्यता अनेक भ्रमभरी मान्यताओं जैसी ही है कि किसी समय मानव जातिका बहुत बड़ा भाग सुख-शान्ति और अुच्च नैतिक युगमें रहता था, या किसी प्रजाके बहुत बड़े भागने लम्बे अरसे तक कभी रामराज्य या धर्मराज्यका सचमुच अनुभव किया था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भविष्यमें सचमुच ही किसी विशाल क्षेत्रमें रामराज्य या धर्मराज्य कायम किया जा सकेगा या नहीं, मगर यह सच है कि मानव जीवनका अुत्कर्ष अिस दिशामें प्रयत्न करनेमें ही है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अिस रामराज्य या धर्मराज्यका चित्र रामायण या महाभारत वगैरामेंसे नहीं लिया जा सकता। अिसका आदर्श तो हमें अपनी ही सत्य, शिव, सुन्दरकी श्रेष्ठ कल्पनाओंमेंसे गढ़ना है। अिस विषयमें अगले परिच्छेदमें थोड़ी ज़्यादा चर्चा की गअी है।

३. अनेक जगहोंपर मैं कह चुका हूँ कि मनुष्य सिर्फ़ प्राकृत (प्रकृति — कुदरतकी गोदमें रहनेवाला) प्राणी नहीं है। वह प्राकृत, संस्कृत तथा विकृत यों तीन तरहका प्राणी है और रहेगा। अुसका हरअेक पुरुषार्थ प्रकृतिको बदलता है, और हरअेकसे कुछ संस्कृति और कुछ विकृति दोनोंका निर्माण होता है। चारों पुरुषार्थोंमेंसे अेक भी पुरुषार्थ, या अेक भी पुरुषार्थमेंसे कृत्रिमरूपमें (यानी जबरदस्ती) लाअी हुअी निवृत्ति या अुसका संकोच या विकास — संस्कृति और अिष्ट परिणाम ही अुपजावे, अथवा विकृति और अनिष्ट परिणाम ही लावे, या प्रकृतिसे अिसे बिलकुल अलग कर दे, अैसा नहीं हो सकता। कअी पुरुषार्थोंका अनिष्ट

परिणाम अगर आज नहीं दीखता, तो बादमें मालूम पड़ता है; यही बात अिष्ट परिणामोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। अिसलिअे पुरुषार्थ चाहे अध्यात्मज्ञानके किसी क्षेत्रका हो, धर्म (यानी प्राकृतिक विज्ञान और मानव व्यवहारोंकी व्यवस्था) से सम्बन्ध रखता हो, अर्थ सम्बन्धी हो, या काम (सुख) सम्बन्धी हो, हरअेक अगर किसी अेक ही दिशामें और अेक ही ढंगसे बढ़े, तो अुसमेंसे कुछ विकृतियाँ निर्माण हुअे बिना नहीं रहतीं। अनिष्ट परिणाम अुत्पन्न होनेसे अगर किसी दिशाके पुरुषार्थको बिल्कुल छोड़ दिया जाय या अुसे अ[illegible] दिशामें मोड़ दिया जाय, तब भी कुछ विकृतियाँ तो निर्माण होती [illegible] हैं। अैसी कोअी दिशा नहीं है जिसे पकड़कर कोअी अेक ही रास्तेसे आगे बढ़ता चला जाय और अुसे केवल संस्कृति, सुख और अुन्नति ही मिलते रहें। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक दिशाके पुरुषार्थको बिल्कुल छोड़ दिया जा सकता है। जितने वक़्त तक अेक मोटर-ड्राअिव्हर गतिनियामक दाब और दिशा बदलनेवाले चक्रको छोड़कर बेफिक्रीसे मोटर दौड़ाते हुअे सलामत रह सकता है, अुतने ही वक़्त तक मानव-पुरुषार्थ भी अेक ही दिशामें बढ़ता रहकर सलामत रह सकता है। शिक्षण-शास्त्रीका कर्त्तव्य मानव-पुरुषार्थकी दिशा और गतिको बार बार जाँचते रहकर, अुसे रास्तेपर बनाये रखना और अनिष्टोंसे बचाना है। पिछले 'चरित्रके स्थिर और अस्थिर अंग' के प्रकरणमें (२–५) मानवके पूर्ण विकासके सम्बन्धमें जो अलग अलग लक्ष्य बतलाये गये हैं, वे सब मिलकर मानव-पुरुषार्थकी मोटरके दाब, चक्र और चाबियाँ हैं। तालीमके द्वारा ये लक्ष्य योग्य परिमाणमें सिद्ध होने चाहियें, और किस हद तक वे सिद्ध होते हैं, अिसकी जाँच करते हुअे अुसके विविध गति बढ़ानेवाले और रोकनेवाले दाबों वग़ैराका अुपयोग करते रहना चाहिये। अैसा किये बिना अेक भी पुरुषार्थ सुरक्षित नहीं रह सकता।

४. तालीममें भाषा और लिपिका प्रश्न महत्त्वका है। अिसके विषयमें ज़्यादा चर्चा अन्य परिच्छेदोंमें की गअी है। यहाँ अिस सम्बन्धमें मैं सिर्फ़ अितना ही कहना चाहता हूँ कि भाषा और लिपि—शिक्षण या ज्ञान नहीं, बल्कि अुनके वाहन हैं। तालीम अथवा ज्ञानकी शुद्धिके लिअे

सीखनेवालोंकी (न कि सिखानेवालोंकी) भाषा और जिस लिपिमें अुस भाषाका साहित्य अुपलब्ध हो, वह लिपि अच्छेसे अच्छा वाहन बन सकती है। सच पूछा जाय, तो मनुष्यकी कोअी कुदरती स्वभाषा—मातृभाषा या पितृभाषा—है ही नहीं। बचपनमें वह जितनी भाषाओंके बीच पलता है, वे सारी भाषायें अुसकी स्वभाषा जैसी हो सकती हैं और अुनमेंसे किसीके भी द्वारा अुसकी तालीम आसानीसे चल सकती है। सम्भव है, अिनमेंसे अेक भी भाषा अुसके माता पिताकी भाषा न हो। हमारे विशाल देशमें सच्ची स्थिति तो यह है कि अनेक बच्चे जिस साहित्यिक भाषा द्वारा तालीम लेना प्रारम्भ करते हैं, वह अुनके घरोंमें बोली जानेवाली भाषासे भिन्न ही होती है। बिहारका आदमी जो हिन्दी सीखता है, अुसे वह घरमें कभी नहीं बोलता। यही हाल मालवेका है। साहित्यिक मराठी नागपुर या बरारकी जनताकी मराठी नहीं है। यही हाल गुजरातीका है। अिसकी अेक निशानी यह है कि शहरके अच्छे विद्वान् यदि साहित्यिक भाषामें गांवके लोगोंसे बातें करते हैं, और स्थानीय भाषा नहीं जानते, तो वे अेक दूसरेकी बात पूरी तरहसे समझ नहीं सकते। अुनके व्याकरण, रूढ़िप्रयोग, अुच्चार और शब्दभंडार भी जुदे पड़ जाते हैं। कुछ मिलता-जुलतापन होनेसे सिर्फ़ अितना होता है कि सार समझमें आ जाता है। अिसलिअे बिलकुल अपनी भाषा द्वारा तालीम दी जानेपर भी स्वभाषाकी तालीम नहीं दी जाती, और बहुत बार तो स्वभाषा द्वारा तालीम देना ही असम्भव होता है।

अिसका यह मतलब नहीं कि स्वभाषा द्वारा दी जानेवाली तालीमका कोअी महत्त्व ही नहीं है, या अिसकी मांग गलत है। बल्कि अिसका मतलब यह है कि (१) हमें अक्षरज्ञान अथवा पुस्तकों द्वारा ज्ञानप्राप्ति और मौखिक तथा कर्मों द्वारा ज्ञानप्राप्तिके बीचके भेदको समझना चाहिये। (अिस विषयको नीचे ज़्यादा साफ किया गया है)। (२) पुस्तकज्ञानके क्षेत्रमें भाषाओंकी तादाद बढ़ानेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है। (३) (अगर परदेशमें जाकर पढ़नेका सवाल न हो, तो) स्वभाषा द्वारा शिक्षण लेनेके बजाय बचपनसे लगाकर आखिरतक अेक ही भाषा द्वारा शिक्षण लेना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। शिक्षणके वाहनको बारबार बदलना

अिष्ट नहीं है। प्राथमिक शिक्षण अेक भाषामें, माध्यमिक दूसरीमें और अुच्च शिक्षण किसी तीसरी ही भाषामें लेना अुचित नहीं है। अिसके बजाय यह ज़्यादा अच्छा है कि अपनी भाषा न हो, तब भी जिस भाषामें शिक्षण पूरा होना है, अुस भाषासे ही अुसकी शुरूआत की जाय। (४) अगर शिक्षणको सार्वत्रिक करनेका वेग बढ़े और पूरे प्रान्तको भी किसी प्रचलित बोली या भाषाको भूलनेका प्रसंग आवे तथा शिक्षणके वाहनके रूपमें निश्चित की हुअी भाषा ही बोलनी पड़े, और अगर वह प्रजा राजी खुशीसे अिसे स्वीकार करनेके लिअे तैयार हो जाय, तो अिसमें कोअी दोष नहीं है। (५) कमसे कम अेक प्रान्तमें अेक ही भाषा द्वारा शिक्षण दिया जाना अिष्ट है।

लिपि तो सिर्फ़ सुविधाकी ही चीज़ है। वह अगर पूर्ण हो यानी अिस तरह लिखी जा सके कि अुच्चारणोंमें गड़बड़ी न हो, तो जो लिपि आसान और सुविधापूर्ण हो, वही अच्छी मानी जानी चाहिये। अिस बातसे डरनेकी ज़रूरत नहीं कि कोअी लिपि दुनियासे लुप्त हो जायगी। दुनियामेंसे अनेक भाषायें और लिपियाँ लुप्त हो गअी हैं, बहुतसे ग्रंथ लुप्त हो गये हैं या अैसे हो गये हैं कि अुन्हें पढ़ा ही नहीं जा सकता। पढ़ लेनेपर भी समझमें नहीं आनेवाला बहुतसा प्राचीन साहित्य है; कअी मानव जातियोंका सिर्फ़ नाम ही बचा है — या नाम भी नहीं बचा। तो फिर भाषा, लिपि व साहित्यके बारेमें क्या कहा जाय? बहुत कम आदमी अैसे होंगे जो अपने बापके दादासे पहलेके पूर्वजोंका नाम ठाम जानते हैं। वे कैसे थे, कहाँसे आये थे, कैसी भाषा बोलते थे, क्या पहनते थे, वगैरा किसी भी बातका अुन्हें पता नहीं है। मध्यकालमें हम गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली, बिहारी वगैरा बने। मगर हमारे पास संस्कृत साहित्य रह गया है, और अुसमें अिस देशके प्राचीन निवासियोंकी बातें हैं। अब हमें अपने सच्चे पूर्वजोंसे भी ज़्यादा ये पौराणिक तथा अैतिहासिक पुरुष तथा जिस भाषामें वे बातें सुरक्षित हैं वे ही ज़्यादा सच्चे लगते हैं। हरअेक हिन्दूको लगता है कि वह राम, कृष्ण, पांडव, राणा प्रताप, शिवाजी वगैराका वंशज है; मुसलमानको लगता है कि वह अरबस्तान और अीरानकी संस्कृतिका

प्रतिनिधि है। गुजरातीको लगता है कि वनराज चावड़ा और सिद्धराज सोलंकीसे अुसका सम्बन्ध है! तिसपर हम जातपांतके भेद भूलनेकी, खूनमें संकरता आवे, तो अुसकी अुपेक्षा करनेकी बातें करते हैं; मगर अिस बातकी चिन्ता करते हैं कि कहीं हमारी भाषामें अरबी या फारसी या अंग्रेजीका मिश्रण न हो जाय। अिसके लिअे भीतर ही भीतर झगड़नेके लिअे भी हम तैयार हैं और पुरानी बातोंको नवजीवन देना चाहते हैं।

कुदरती कारणोंसे या मनुष्य द्वारा मनुष्यपर किये गये अत्याचारोंकी वजहसे भाषा, लिपि, वगैराका लोप या संकर कअी बार हुआ है। अगर अिसके बजाय मनुष्य अेकता और ज्ञानवृद्धिके लिअे अिरादतन अैसा होने दे, तो अिसमें ज़्यादा बुद्धिमानीकी बात होगी। धर्मकी तरह शिक्षा भी मनुष्यको मनुष्यसे अलग करनेवाली नहीं, बल्कि अेक करनेवाली होनी चाहिये; वह मनुष्योंको अपने बीचके पूर्वजोंकी याद दिलानेवाली और अुनके प्रति प्रेम पैदा करनेवाली नहीं, बल्कि सबके अेकमात्र पूर्वज अथवा आदिकारण — परमेश्वरका ही स्मरण करानेवाली और अुसके लिअे प्यार पैदा करनेवाली होनी चाहिये।

२

भाषाके प्रश्न – अुत्तरार्ध

संस्कृतिकी दृष्टिसे पहले खण्डमें अिस विषयपर कुछ विचार किया गया है। यहाँ मैं अुसपर शिक्षणकी दृष्टिसे ज़्यादा विचार करूँगा। अूपर पुस्तकों द्वारा ज्ञानप्राप्ति और वाणी तथा कर्मों द्वारा ज्ञानप्राप्तिके बीचके भेदका अुल्लेख किया गया है। यह स्पष्ट है कि शिक्षाका अच्छेसे अच्छा और सफल वाहन शिक्षण देनेवालेकी नहीं, बल्कि शिक्षण लेनेवालेकी अपनी भाषा है। वह असंस्कृत, अशुद्ध व अनेक भाषाके शब्दोंकी खिचड़ी हो, फिर भी शिक्षण लेनेवाला अुसे ही ज़्यादासे ज़्यादा समझ सकता है। अिसकी मारफत दिया जानेवाला ज्ञान प्राथमिक हो, चाहे अुच्च हो — भले ही वह खिचड़ी भाषा द्वारा क्यों न हो — मगर वह शिक्षण लेने-वालेकी भाषा द्वारा ही होना चाहिये।

वाणी और कर्मों द्वारा दिये जानेवाले ज्ञानकी तुल्नामें पुस्तक द्वारा दिया जानेवाला ज्ञान अेक तरहसे कम कीमतका है। मगर आज ज्ञानका अितना बड़ा भंडार पुस्तकों रूपी पेटियोंमें बन्द है कि बहुत बड़ी हद तक अुसने वाणी और कर्मों द्वारा मिल्नेवाले ज्ञानसे भी ज़्यादा महत्त्वका स्थान ले लिया है। भाषा और लिपि अिन पेटियोंको खोल्नेवाली चाबियों जैसी हैं। जिनको ये चाबियाँ मिलें, अुनके लिअे ज्ञानका बहुत बड़ा भंडार खुल जाता है। अिसलिअे बड़े पैमानेपर और बड़ी तेजीसे अक्षर-ज्ञान फैलानेकी ज़रूरत आ पड़ी है।

जिस तरह रास्तेपर सार्वजनिक अुपयोगके लिअे खड़े किये गये नलकी टोंटी अैसी नहीं होनी चाहिये कि अुसे खोल्नेके लिअे खूब ताकत या हिकमत या खास तालीमकी ज़रूरत पड़े, अुसी तरह पुस्तकोंको खोलनेकी चाबियाँ भी अैसी होनी ज़रूरी हैं कि वे जैसे बने तैसे सबको सुलभ हो सकें और अुनके अुपयोगका तरीका सबको तुरन्त ही आ जाय। अिन चाबियोंके अनेक अटपटे 'पेटंट' होना अिष्ट नहीं है। जिस तरह साअिकल जैसी सार्वजनिक अुपयोगकी चीज़ें बनानेवाले कारखाने सैकड़ों हों, फिर भी अुनका ढाँचा और विविध भाग कुछ निश्चित कद और निश्चित मापके ही बनानेकी ओर हमारा झुकाव रहता है, अुसी तरह भाषा और लिपिके सम्बन्धमें भी होना चाहिये।

भाषा और लिपिमेंसे भाषाकी विविधताको टालना ज़्यादा कठिन है; लिपिकी विविधताको टाल्ना कम। सारी दुनियाकी बात तो अेक तरफ रही, हिन्दुस्तान जैसे विशाल देशकी, या अिसके किसी अेक ही भाषावार प्रान्तकी भाषामें भी विविधताका अुत्पन्न न होना असंभव है। पहले बोल्नेमें फ़र्क़ पड़ता है, वही धीरे धीरे लिखनेमें अुतरता है। लिपिकी विविधताको बिलकुल टाला भले न जा सके, फिर भी अुसे ज़्यादा आसानीसे कम किया जा सकता है।

मगर विविधता रहते हुअे भी अगर हमारे संकुचित दुराग्रह कम हों, तो नीचे बतलाये हुअे व्यावहारिक रास्ते अख्तियार किये जा सकते हैं:

भाषाके सम्बन्धमें—(क) मौखिक व्याख्यानोंमें सुननेवालेकी या शिक्षण लेनेवालेकी भाषाको ज़्यादा महत्त्व दिया जाना चाहिये : यानी जिस भाषाको वह आसानीसे समझ सकता हो, अुसी भाषामें बोलना वक्ताका पहला कर्तव्य है। बोलनेवाले शिक्षक या वक्ताको सुननेवालेकी भाषा सीखनी चाहिये, न कि सुननेवालेको वक्ताकी। अिसका यह मतलब नहीं कि सुननेवालेकी भाषाकी व्याकरण या अुच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी अुसे रखनी ही चाहियें, मगर अितना ध्यान रहे कि बोलनेवालेकी अपेक्षा सुननेवालेकी सुविधा ज़्यादा महत्त्वकी चीज़ है। कुछ हदतक सभ्यता भी अिसी नियमके पालनमें है। मान लीजिये कि मेरे साथ बात करनेके लिअे आनेवाला कोअी अैसा मद्रासी या पारसी है, जो आसानीसे हिन्दी या (पारसी होते हुअे भी) गुजराती नहीं बोल सकता। वहाँ अंग्रेज़ी पराअी भाषा होते हुअे भी अुसीमें बातचीत करना सभ्यता है। अिसी तरह जिस विषयपर मुझे बातचीत करनी हो, अुस विषयके खास शब्द, जिस भाषामें बातचीत चल रही हो, अुससे भिन्न भाषाके होनेपर भी अुन्हें ही काममें लेना चाहिये। अगर हम अिस नियमको समझ लें, तो हिन्दी, अुर्दू, हिन्दुस्तानी वग़ैराके विवाद कम हो जायँ। और भाषाका विकास किसी खास प्राचीन वाणीमेंसे ही करनेका गलत आग्रह दूर हो जाय। तब हम मामूली तौरपर 'सोना' शब्द भी बोलेंगे और खास जगह पर 'स्वर्ण' या 'हिरण्य' जैसा शब्द भी काममें लेंगे; रसायनविद्यामें 'ऑरम' शब्द और 'au' संज्ञाका भी अुपयोग करेंगे। अेल्युमिनियम या निकलके लिअे नये शब्द गढ़नेकी ज़रूरत नहीं समझेंगे। अेक ओर अगर मारगेज शब्द काममें लाते हैं, तो मारगेजर, मारगेजी भी लेने ही चाहिये, अैसा आग्रह नहीं रखेंगे। कन्ट्राक्टर शब्दका अुपयोग करते हैं, अिसलिअे अिक़रार और अिक़रारनामा शब्द छोड़ देने चाहियें और कन्ट्रांक्ट और कन्ट्राक्ट-डीड ही कहना चाहिये, अैसा भी आग्रह नहीं करेंगे। 'सिग्नेचर' के लिअे सही या हस्ताक्षर शब्दका अिस्तेमाल करना सुननेवालेकी सहूलियतपर निर्भर रहेगा; और हस्ताक्षरका अुपयोग किया अिसलिअे signed का हस्ताक्षरित या signatory का हस्ताक्षरी करना ज़रूरी नहीं होगा; और 'सही किया हुआ', 'सही करनेवाला' शब्द अैसे नहीं होंगे, जिन्हें छोड़ ही देना चाहिये।

(ख) पुस्तककी भाषाके सम्बन्धमें अनेक स्थानीय बोलियों और शब्दोंकी अपेक्षा व्यवहारमें आअी हुअी व्याकरण-शुद्ध भाषा और ज़्यादासे ज़्यादा प्रचलित शब्द काममें लेने चाहियें। मौखिक व्याख्यानमें भले सुननेवालेकी सहूलियतको ज़्यादा महत्त्व दिया जाय, मगर पुस्तकीय लेखनमें लेखक, पाठक और पुस्तकका विषय तीनोंकी परस्पर सुविधाका खयाल रखना ज़रूरी है। लेखक अगर अपनी ही सहूलियत और सन्तोषकी दृष्टिसे लिखे, तो जिसे गरज़ होगी वही पढ़ेगा। मगर लेखक पाठकके फ़ायदेके लिअे और पुस्तकके विषयको अच्छेसे अच्छे ढंगसे पेश करनेके लिअे लिखता हो, तो अुसे भाषाकी योजनामें बहुत कुछ खुलापन और स्वतंत्रता भी लेनी होगी। मगर अिसके साथ ही तालीमके क्षेत्रमें आनेवाली और अुसके लिअे ही लिखी गअी पुस्तकोंमें भाषाकी जिस प्रकारकी योजना शिक्षण लेनेवालेके लिअे योग्यसे योग्य वाहन हो सकती हो, वैसी ही होनी चाहिये। अिसमें अैसा करनेकी ज़रूरत नहीं है कि शिक्षण लेनेवालेको अिसकी भाषा समझनेमें कुछ भी मेहनत न अुठानी पड़े। मगर वह योजना अैसी भी नहीं होनी चाहिये कि भाषा समझने पर ही बहुतसा ध्यान देना पड़े। अिसमें अिस बातका भी खयाल रखा जाय कि शिक्षाका विषय कितना सार्वजनिक है। अुदाहरणके लिअे खेती, ग्रामोद्योग, व्यापार, स्वच्छता वग़ैराकी व्यावहारिक तालीमका अेक तरफ तो स्थानीय महत्त्व है और दूसरी तरफ वह समूचे देश या पूरी दुनियाके लिअे व्यापक है। डॉक्टरी विद्यायें, विज्ञानकी विविध शाखायें, बड़े बड़े अुद्योग और अुनसे सम्बन्धित विद्यायें वग़ैरा जगद्व्यापी विषय हैं। सामान्य राजनीति, अर्थशास्त्र वग़ैरा राष्ट्रीय महत्वके विषय कहे जा सकते हैं। संस्कृत, फारसी, अरबी, द्राविड़ी वग़ैरा भाषाओंका प्रान्तों तथा पूरे हिन्दुस्तान और अेशियाके अधिकांश भागकी भाषाओंके साथका सम्बन्ध मूल तत्त्व और अुनमेंसे निकले हुअे विविध रसायनों जैसा है; अंग्रेजी तथा अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक परिभाषा अिन भाषाओंमें अूपरसे पड़े हुअे मसालों जैसी मानी जायेंगी। हिन्दुस्तानकी प्रान्तीय भाषायें अिन सभी भाषाओंसे पोषित हैं। अिसमें यह विषय बहुत महत्त्वका नहीं है कि किस भाषाका कितना 'परसेण्टेज' है। किसी भाषाके चाहे पाँच फी सदी शब्द भी न

हों, फिर भी जिस तरह क्षार और विटामिनके 'परसेण्टेज' शरीरके स्वास्थ्य और गठनमें बहुत महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करते हैं, वैसे ही अिनका भी महत्त्व हो सकता है। अिसलिअे अिन भाषाओंकी तरफ अिस तरह देखना अनुचित है कि वे कोअी रोग पैदा करनेवाले ज़हर हों, या हमें भ्रष्ट करनेके लिअे आअी हों।

अिन सारी दृष्टियोंसे विचार करनेपर मुझे लगता है कि (१) प्राथमिकसे लगाकर अुच्च शिक्षण तकके मौखिक शिक्षणमें जहाँतक हो सके स्थानीय भाषाका ही अुपयोग होना चाहिये, फिर भले अुससे सम्बन्धित पाठ्य-पुस्तकें अुस भाषामें न हों, और भले विशिष्ट परिस्थितिमें अपवाद रूपसे किसी अध्यापकको हिन्दुस्तानीमें सिखानेकी छूट हो; (२) प्रान्तीय महत्त्वके विषय और शुरूआतकी पुस्तकें प्रान्तीय भाषामें लिखी जायँ; (३) अन्तरप्रान्तीय महत्त्वके विषयोंका लेखन हिन्दुस्तानीमें हो और यथासम्भव प्रान्तीय भाषाओंमें भी हो। अंग्रेजी भाषाकी पुस्तकोंका अुपयोग कामचलाअू हो, और जैसे बने तैसे अुसे कम करनेकी तरफ झुकाव हो; (४) अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वके विषयोंके लिअे अंग्रेजी पुस्तकोंका अुपयोग तथा लेखन हो; और (५) अन्तिम मगर महत्त्वकी बात यह है कि बोलने या लिखनेकी भाषा चाहे जो हो, मगर सभी भाषायें अपने अुन शब्दोंको निकालकर नये बनानेका रुख न रखें, जो अुनमें प्रचलित हो गये हैं, फिर भले वे किसी भी भाषासे क्यों न आये हों। पारिभाषिक शब्द अगर पाश्चात्य विद्याओं, धन्धों और संस्थाओंसे सम्बन्ध रखते हों, और अिन विद्याओं वगैरामें प्रचलित हों, तो जहाँ तक बने अुन्हें ही रहने दिया जाय; फिर भले वे संज्ञायें हों, क्रियायें हों, गुण हों, मूल हों, या साधित हों, या व्याकरणके दूसरे कोअी अंग हों; और जहाँ अैसे शब्द नये ही बनाये जायँ, वहाँ सारे प्रान्तोंमें अनिवार्य रूपसे अेक ही रहें। किसी नये विषयका लेखक या नया शोधक अलबत्ता अुसे योग्य लगे, वैसे शब्द बना सकता है; और जहाँ तक हो सके, वे ही शब्द सारे प्रान्तोंमें स्वीकार किये जायँ।

हिन्दुस्तानीके नामसे मैं जिस भाषाका सुझाव रखता हूँ, वह किसी बनावटी, बेसिक अंग्रेजीकी तरह अमुक ही शब्द-भंडारवाली या व्याकरणकी

मर्यादामें बँधी हुअी भाषाका नहीं, बल्कि अूँचेसे अूँचा, अच्छेसे अच्छा, लेखककी भाषाशक्तिको क्षेत्र देनेवाला साहित्य अुत्पन्न कर सकनेवाली भाषाका है। अुसका शब्दभंडार, वाक्यरचना, शैली वगैरामें संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी या दूसरी किसी भी भाषाका अुपयोग किया जा सकता है। अुसका व्याकरण तथा रूढ़िप्रयोग साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक अुर्दू दोनोंके आधारपर रचे जा सकते हैं और किसी दूसरी भाषाका भी अुपयोग कर सकते हैं; मगर जिसमें किसी शास्त्रीय विषयकी पुस्तकें लिखनी हों, और शिक्षण संस्थाओंके लिअे तथा रोज़ानाके सामाजिक नियमों या व्यापार या दूसरे क्षेत्रोंके व्यवहारके लिअे अुपयोगी विषयोंका निरूपण करना हो, तो अुसमें प्रचलित शब्दोंका तथा अन्तरप्रान्तीय व अन्तरराष्ट्रीय परिभाषाका ही अुपयोग करना चाहिये। साहित्यिक निबन्ध, काव्य, कथा वगैरामें लेखकको अपनी रुचिके अनुसार चाहे जैसी भाषा लिखनेकी आज़ादी होती ही है। जितनी ही वह भाषा समाजको प्रिय होगी, अुतनी ही दूसरे क्षेत्रोंमें तथा व्यवहारमें दाखिल होती जायगी, और भाषाको समृद्ध करती जायगी।

भाषाओंके सम्बन्धमें हमारे देशमें अेक शौक ज़रूरतसे ज़्यादा फैला हुआ है। अिसपर मैं शिक्षणकी दृष्टिसे कुछ कहना चाहता हूँ। विविध कारणोंसे हमारे देशके ब्राह्मण और व्यापारी वर्गको जुदी जुदी भाषायें सीख लेनेकी हथौटी जैसी सध गअी है। अलबत्ता, दोनों वर्गों की सीखनेकी रीति और अुसपर क़ाबू व विद्वत्ता जुदे प्रकार की है। मगर अेकाध ज़्यादा भाषा सीख लेना अुनके लिअे आसान बात हो गअी है, और अैसा होनेसे अुन्हें अिसका शौक भी लग गया है। बारह-तेरह भाषायें जाननेवाले विद्वान हमारे यहाँ मिल सकते हैं। शिक्षणका तंत्र ज़्यादा-तर अुन्हींके प्रभावमें रहनेसे शिक्षणमें भाषाओंकी तादाद बढ़ानेकी ओर ही अुनका झुकाव रहता है। स्वाभाविक होनेसे मातृभाषा, देशवासीकी हैसियत से—हिन्दी, अुर्दू दोनों शैलियोंसे युक्त—हिन्दुस्तानी, स्वभाषाकी जननी होनेसे संस्कृत या फारसी, धर्मके कारण संस्कृत-प्राकृत, या अरबी या ज़ंद भाषा, पड़ोसी धर्मकी रूसे पड़ोसी प्रान्तकी भाषा, अेकाध द्राविड़ी कुलकी भाषा, और अन्तरराष्ट्रीय होनेसे तथा पाश्चात्य विद्याओंका द्वार रूप

होनेसे अंग्रेजी भाषा — अिस तरह सुझावकी सीमा छह-सात भाषायें सीखने तक पहुँच जाती है ।

हिन्दुस्तान जैसे बड़े देशमें अैसे अनेक भाषायें जाननेवाले पाँच-दस हज़ार भाषा-पंडितोंके होनेमें कोअी बुराअी नहीं है । अपनी हौस या शौकसे भले कोअी आदमी अेकके बाद अेक नयी नयी भाषा सीखता चला जाय । अिस तरह सीखनेकी अिच्छा रखनेवालेको वैसी सुविधा मिलती रहे तो बस है । फिर व्यापारी या बाजारू पद्धतिसे—यानी किसी दूसरे प्रान्तके लोगोंके बीच बसकर और अुनके प्रत्यक्ष सहवासमें रहकर—अगर कोअी आदमी जुदी जुदी भाषायें सीख लेता है, तो अिसमें कोअी दोष नहीं है । मगर शिक्षणके तंत्रमें भाषा ज्ञानको स्थान देनेका सवाल हो और फिर अुन भाषाओंके साथ विविध लिपियाँ भी हों, तो भाषाओंकी तादादपर कुछ मर्यादा रखनी चाहिये । दूसरे अनेक अुपयोगी विषयोंको कम करनेपर ही विविध भाषाओंको जगह दी जा सकती है । अिस दृष्टिसे मेरी रायमें सिर्फ दो ही भाषाओंका व्यवस्थित शिक्षण आवश्यक हो सकता है : अेक प्रान्तकी साहित्यिक भाषा और दूसरी हिन्दुस्तानी । ये दोनों भाषायें खूब अच्छी तरहसे सिखाअी जानी चाहियें । दूसरी सारी भाषाओंका शिक्षण ज़रूरत पड़नेपर और आवश्यकताके अनुसार ही दिया जाय । अुदाहरणके लिअे, अुच्च शिक्षणमें विज्ञानकी विविध शाखाओंमें अंग्रेजी और जर्मनमेंसे अेक या दोनों भाषाओंकी ज़रूरत पड़ सकती है । राज्यतंत्रके विषय सीखने-वालेको अंग्रेजी और दुनियाकी कोअी दूसरी अेक या ज़्यादा भाषायें भी सीखनी ज़रूरी हो सकती हैं; दर्शनशास्त्रोंके अभ्यासी, भाषाशास्त्री वगैराके लिअे अेक या ज़्यादा प्राचीन भाषायें सीखना आवश्यक हो सकता है । प्रायः सभी विषयोंमें अंग्रेजीकी समान ज़रूरत होनेसे मौजूदा जमानेकी ज़रूरतके अनुसार अुसका अितना शिक्षण सबके लिअे लाज़मी किया जा सकता है, जिससे अुच्च शिक्षणमें पुस्तकें वगैरा समझमें आ सकें । मगर, अिसके अलावा दूसरी भाषाओंको सिर्फ भाषाके खास विद्यार्थी ही सीखें, और वह भी अुच्च शिक्षण लेना आरम्भ करनेके बाद ही ।

धार्मिक वृत्ति तथा चरित्रकी अुन्नति या आत्मज्ञानके लिअे प्राचीन भाषाओंका ज्ञान आवश्यक नहीं है; न व्यवहार चलानेके लिअे ही अनेक

भाषाओंके व्यवस्थित — व्याकरणबद्ध शिक्षणकी ज़रूरत है। कअी भाषाओंका सिर्फ समझना और पढ़ते बन जाना काफ़ी होता है, अुनको लिखते या बोलते आना ज़रूरी नहीं है। किसी प्रान्तीय भाषाके या हिन्दुस्तानीके व्यवस्थित शिक्षणमें अुन प्राचीन या अर्वाचीन भाषाओंके आवश्यक अंगोंका समावेश होना चाहिये, जिन्होंने अुस भाषाके व्याकरणके रूपमें अुसकी रचनामें अींट-चूना-रेती वगैराका काम किया है। मगर अिसके लिअे हरअेकको वे प्राचीन या अर्वाचीन भाषायें सीखनी ही चाहियें अैसा ज़रूरी नहीं है।

अगर भाषाज्ञानकी महिमा और अुससे सम्बन्धित वहम कम नहीं होंगे, तो अुद्योगपरायण, व्यवहारकुशल और प्रसन्न बुद्धिकी प्रजाका निर्माण होना कठिन है। कोअी चाहे जितनी हॉक पुकार करे, शिक्षणमें पंडिताअी और तर्क-कुशलताका ही प्रथम स्थान रहेगा।

३

लिपिका प्रश्न — अुत्तरार्ध

लिपिके सम्बन्धमें भी मैं पहले खंडमें कह चुका हूँ। यहाँ हमें शिक्षणकी दृष्टिसे अुसपर विचार करना है।

स्वर-व्यंजन वगैराकी व्यवस्थित जमावट (वर्णव्यवस्था या वर्णानुक्रम) और वर्ण (जुदी जुदी लिपियोंमें ध्वनियाँ दिखानेवाली आकृतियाँ और मरोड़) दोनों अेक ही चीज़ नहीं हैं। अिस बातसे कोअी अिनकार नहीं कर सकता कि संस्कृत भाषाका वर्णानुक्रम बहुत व्यवस्थित है। अिसमें भी सन्देह नहीं कि अलिफ-बे या अे-बी-सीके क्रममें कोअी व्यवस्था नहीं है। और यह भी सच है कि स्पष्ट अुच्चारण दर्शानेके लिअे कमसे कम जितने स्वतंत्र अक्षर चाहियें, अुतने अिन दो लिपियोंमें नहीं हैं। अिन दो की अपेक्षा भी संस्कृत वर्णानुक्रमवाली लिपियोंमें बहुत ज़्यादा अक्षर हैं।

अरबी-फारसी लिपिके सवालपर अिससे ज़्यादा चर्चा करनेकी ज़रूरत नहीं है, क्योंकि अिस लिपिको अिस देशकी या जगतकी अेकमात्र लिपि बनानेका कहीं भी सुझाव नहीं है। अिसलिअे सवाल संस्कृत वर्णमालावाली विविध लिपियों और अे-बी-सी के बीच ही है।

अक्षरोंकी तादाद और अनुक्रम-व्यवस्थाकी दृष्टिसे संस्कृत कुलकी लिपियोंकी विशेषता अूपर बतलाअी गअी है; मगर आकृतियों, स्वर-व्यंजनके योगों और संयुक्ताक्षरोंकी सरलता और अिसलिअे अुनको सीखने तथा लिखनेमें आसानीकी दृष्टिसे विचार करें, तो अे-बी-सीके गुण संस्कृत कुलकी किसी भी लिपिसे बढ़ जाते हैं और अिस बातसे अिन्कार करना मूढ़ाग्रहके सिवा और कुछ नहीं है। अिसकी आकृतियोंकी सरलता के लिअे दो कसौटियाँ काफ़ी हैं। अे-बी-सी के छब्बीस अक्षर और ध्वनियोंको अुपजानेवाले संस्कृत कुलकी किसी भी लिपिके छब्बीस अक्षर अेक ही मापमें (मान लीजिये अेक वर्गअिचके चौकठमें) लिखें और फिर नापकर देखें कि अंग्रेजी अक्षरोंमें कुल कितने अिंच लम्बी रेखायें खींचनी पड़ती हैं और हमारी लिपियोंमें कितनी। पता चलेगा कि अंग्रेजी लिपिमें कुल मिलाकर कम लम्बी रेखायें हैं। अिसका कारण यह है कि विविध अक्षरोंमें हमारी लिपियोंके मुकाबले अे-बी-सी में कम मरोड़ और गाँठें वगैरा आती हैं।

दूसरी जाँच यह है कि अेक बालक तथा अेक निरक्षर प्रौढ़को आध-आध घंटे हमारी लिपिके मूलाक्षरों तथा अंग्रेजी लिपिके मूलाक्षरोंका परिचय देना प्रारम्भ कीजिये और देखिये कि वे किस लिपिके अक्षरोंको ज़्यादा तेज़ीसे याद कर सकते हैं। अिसके बाद अुन्हें लिखना सिखाअिये और देखिये कि किन अक्षरोंको वे जल्दी लिखना सीख जाते हैं।

हमारा वर्णानुक्रम तो अच्छा है, मगर वर्णोंके मरोड़ — आकार — सरल नहीं हैं, और अुन्हें स्वरोंके साथ मिलाने व संयुक्ताक्षर लिखनेकी पद्धति भी सुविधाभरी नहीं है। अिससे अिन्हें सीखने तथा लिखनेमें ज़्यादा मेहनत पड़ती है और गति भी धीमी रहती है।

फिर भी, अगर हम अितने तीव्र देशाभिमानी हो सकें कि प्रान्तीय लिपियोंको छोड़कर देवनागरीमें ही सारी प्रान्तीय भाषायें

लिखना मंजूर करें, तो अंग्रेजी लिपिका सवाल अेक तरफ़ छोड़ा जा सकता है और अुर्दू लिपिका सवाल भी बहुत गौण हो सकता है। देवनागरीको सुधारना तो होगा ही, मगर जो प्रजायें अपनी अपनी प्रान्तीय लिपियाँ छोड़नेकी अूँचाअी तक अुठेंगी, अुन्हें देवनागरीको सुधारनेके बारेमें सम्मत होनेमें ज्यादा कठिनाअी नहीं महसूस होगी।

अगर प्रान्तीय लिपियोंका सवाल अिस तरह बिलकुल हट जाता है, तो अुर्दू लिपि लिखनेवाले प्रान्तोंको तथा (हिन्दू-मुसलमान जो हों अुन सब) जातियोंको समझाया जा सकता है कि आप चाहे जैसी अरबी — अुर्दू गढ़िये, चाहे जितनी अुसे अरबी-फारसी भरी बनाअिये, मगर अुसे देवनागरीमें ही लिखिये और देवनागरीमें ही सीखिये। अिससे आपकी भाषाको भी फायदा है और देशकी दूसरी भाषाओंको भी फायदा ही होगा।

मगर यदि हम अपने प्रान्तीय अभिमानको न छोड़ सकते हों, तो मान लीजिये कि सिर्फ मुसलमान ही अुर्दूवाले हों, फिर भी वे अगर अुर्दूका आग्रह न छोड़ सकें तो अुन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।

मगर प्रान्तीय लिपियोंका आग्रह छूट सकना आज मुश्किल मालूम होता है। तब फिर यह देखना बाकी रहता है कि शिक्षण और राजतंत्रकी दृष्टिसे अिस समस्याको कैसे हल किया जा सकता है। वहाँ रोमन लिपि भी अपनी अुम्मीदवारी पेश कर रही है। लेखन, छपाअी वगैराकी दृष्टिसे अिसकी सुविधाके सम्बन्धमें मैं अूपर कह चुका हूँ। कोअी भी दो लिपियाँ जाननेवालोंकी अगर मर्दुमशुमारी करें, तो दूसरी लिपिकी तरह रोमन लिपि जाननेवाले सबसे ज्यादा निकलेंगे। देशकी कुछ भाषायें रोमनमें लिखी भी जाती हैं। तारों व चिट्ठी-पत्रीमें सभी भाषाओंके व्यक्तियों तथा स्थानोंके नामोंके लिअे रोमन लिपिका ही अुपयोग होता है। देशके बाहर जगतमें यही लिपि सबसे ज्यादा महत्त्वकी है। अिसके दोषोंको थोड़े फेरफारसे दूर किया जा सकता है।

अिन सब बातों पर विचार करनेके बाद मैं नीचे लिखे नतीजों पर पहुँचा हूँ :

१. रोमन लिपिका अैसा स्वरूप निश्चित किया जाय, जिससे वह प्रान्तकी विविध भाषाओंके अुच्चारोंको पूरी तरहसे और ठीक ठीक पेश कर सके; अिसे निश्चित की हुअी रोमन लिपि कहा जाय।

२. सबके लिअे दो लिपियोंका ज्ञान आवश्यक हो; प्रान्तीय लिपिका और निश्चित की हुअी रोमनका।

३. किसी भी रूपमें हिन्दुस्तानीको मातृभाषाकी तरह बोलनेवालेके लिअे जो दो लिपियाँ हैं, वे हैं देवनागरी और अुर्दू। यानी मातृभाषाकी तरह हिन्दुस्तानी सीखनेवालेके लिअे देवनागरी तथा रोमन, अथवा अुर्दू तथा रोमन लिपियोंका ज्ञान आवश्यक हो।

४. हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषाकी तरह सीखनेवाला अुसे अपनी प्रान्तीय लिपिमें तथा रोमन लिपिमें सीखे, और अुन दोमेंसे किसीभी अेकका अपनी सुविधाके अनुसार अुपयोग करे। प्रान्तीय सरकार अुन दोनोंको मान्य रखे। प्रान्तकी भाषाके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है।

५. केन्द्रीय सरकारके कारबारमें अुपयोगमें आनेवाली हिन्दुस्तानीमें प्रजा 'निश्चित की हुअी' रोमन, देवनागरी तथा अुर्दूमेंसे किसी भी लिपिका अुपयोग करे। प्रजाकी जानकारीके लिअे प्रकाशित किये जानेवाले लेखन वगैरामें रोमन तथा जिस प्रान्तके लिअे वह लेखन प्रकाशित हो वहाँकी लिपि दोनोंका अुपयोग किया जाय।

अिस व्यवस्थासे देशकी हरअेक भाषाके लिअे कमसे कम अेक सामान्य लिपि — और वह भी जगद्व्यापी लिपि—प्राप्त हो सकेगी; और रोज़ानाके भीतरी व्यवहारोंमें तथा साहित्यमें प्रान्तीय लिपियाँ भी रह सकेंगी। और कोअी भी भाषा सीखनेका रास्ता आसान हो जायेगा।

४

अितिहासका ज्ञान

पिछले पचास बरसोंसे विद्वानोंने अितिहासके ज्ञानकी बड़ी महिमा गाअी है, और अनेक दिशाओंमें अैतिहासिक शोध करने तथा अनेक विषयोंका अितिहास लिखनेकी काफ़ी कोशिश हुअी है। अपने देश, जगत तथा जीवनकी अनेक बातोंका पिछला अितिहास जानना मनुष्यकी सर्वांगीण और सामान्य तालीमका आवश्यक अंग माना गया है। अर्थ-शास्त्रियोंमें अितिहासवादियोंका अेक सम्प्रदाय ही है। कम्युनिस्ट अपनी विचारसरणीको अैतिहासिक सत्योंपर ही आधारित मानते हैं और अुस परसे मानव जीवनके भविष्यके सम्बन्धमें निश्चित मत प्रतिपादित करते है। अैतिहासिक ज्ञानकी महिमामेंसे अितिहासको 'सुरक्षित रखनेका' भी अेक आग्रह पैदा हुआ है और वह अिस हद तक बढ़ा है कि मानवके आदियुगका नमूना लुप्त न हो जाय, अिसलिअे कुछ पुरातत्त्ववादियोंका विचार है कि जंगली व पिछड़ी हुअी जातियोंको अुनकी आदि दशामें ही रहने दिया जाय। अैसे लोग भी हैं, जो अनेक रूढ़ियों तथा संस्थाओंको आजके जीवनमें अर्थहीन और असुविधाजनक होते हुअे भी अितिहासको सुरक्षित रखनेके लिअे बनाये रखना चाहते हैं।

जब अितिहासका अितना ज़्यादा महत्त्व माना जाता हो, तब मेरे यह कहनेमें धृष्टता मालूम होगी कि यह मान्यता लगभग वहमकी कोटिकी है। मगर बड़ी नम्रतासे मैं कहना चाहता हूँ कि अितिहासके ज्ञानका जितना महत्त्व माना जाता है, अुतने महत्त्वका पात्र वह नहीं है। अिसमें पीतलके गहनेको सोनेका गहना मान लेने जैसी ही भूल की जाती है।

सच बात तो यह है कि किसी भी घटनाका सोलह आने सच्चा अितिहास हमें भाग्यसे ही मिलता है। खुदकी ही की हुअी और कही

हुअी बातोंकी भी याददाश्त अितनी तेजीसे फीकी पड़ जाती है कि थोड़े समय बाद अुसमें सत्य और कल्पनाका मिश्रण हो जाता है। किसी मानस-शास्त्रीने अेक प्रयोगका वर्णन किया है। विद्वानोंकी सभामें अेक नाट्य-प्रयोग किया गया। अुसमें अेक वारदातका प्रदर्शन किया गया। प्रयोगके साथ ही अुसकी फिल्म भी अुतार ली गअी। प्रयोग कुछ मिनिटोंका ही था। प्रयोग होनेके आधे घण्टे बाद श्रोताओंसे कहा गया कि अुन्होंने जो देखा अुसका ठीक ठीक वर्णन लिखें। नतीजा यह आया कि तीस साक्षियोंमेंसे सिर्फ अेक दोके वर्णन तो फिल्मके साथ ८० फ़ीसदी मिलते थे। शेष सबके वर्णनोंमें ४० फ़ीसदीसे ६० फ़ीसदी तककी भूलें निकलीं।

अिसमें आश्चर्य करने जैसी कोअी बात नहीं है। जब तटस्थ और सावधान साक्षी भी घटनाओंको यों तेजीसे भूल जाते हैं, तब फिर जिनमें घटनाके अुत्पन्न करनेवाले तथा लिख रखनेवाले लोगोंका कोअी रागद्वेष — पक्षपात वगैरा हो, अुनके वर्णनोंमें अगर सचाअीका हिस्सा कम हो और जैसे जैसे समय बीतता जाय, वैसे वैसे ज़्यादा ज़्यादा कम होता जाय, तो अिसमें आश्चर्यकी क्या बात है? वर्तमान घटनायें भी अेक ही दिनमें अैसी संशयास्पद बन सकती हैं कि सच सच घटना क्या घटी, यह कभी भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कल तक कलकत्तेकी 'काल कोठरी'की बातको सभी विद्यार्थी और शिक्षक सच्ची घटना समझते थे। वही अब गप साबित हुअी है। अभी हाल ही में पं. सुन्दरलालजीने यह बतलाकर हमें आश्चर्यचकित कर दिया है कि सोमनाथको लूटनेकी बात भी सच नहीं है। अगस्त १९४६के बाद देशभरमें होनेवाले हिन्दू-मुस्लिम अत्याचारों और दंगोंका सोलह आने सच्चा अितिहास कभी भी नहीं मिल सकेगा। कृष्णका सच्चा जीवन-चरित्र कौन जान सकता है? रामका ही नहीं, अीसा मसीहका भी कभी जन्म हुआ था या नहीं, और अुसे क्रॉस पर चढ़ाया गया था या नहीं, अिसपर भी शंका की गअी है। शेक्सपीयरके नाटकोंके सम्बन्धमें प्रेमानन्दके नाटकों जैसा ही विवाद है। अिधर विद्वानोंमें अिस सम्बन्धमें चर्चा है कि कालिदास कितने हो गये हैं।

अिस तरह जिस अितिहासके ज्ञानकी हम महिमा गाते हैं, वह भले ही अितिहासके नामसे और सेक्रेटरियेटके दफ्तरों तथा प्रत्यक्ष भाग लेनेवालोंके मुँहसे सुनकर लिखा गया हो, फिर भी वह अुपन्यास या सम्भाव्य घटनासे ज़्यादा कीमती नहीं होता। अिसका वाचन और पिछली कड़ियोंको खोजने और जोड़नेकी बौद्धिक कसरत मनोरंजक अवश्य है, मगर शेक्सपीयर, कालिदास, बर्नार्ड शॉके अुत्तम नाटकों, या पौराणिक वार्ताओं तथा परम्परागत दंतकथाओंसे न तो अिसकी ज़्यादा कीमत करनी चाहिये न अुनसे ज़्यादा अिसके ज्ञानका मोह ही रखना चाहिये।

अितिहास पढ़कर भूतकालके सम्बन्धमें हम जो कल्पनायें करते हैं, वे योग्य मात्रासे बहुत ज़्यादा व्यापक रूपलिये होती हैं। और अुनपरसे हम जो अभिमान या द्वेष अपने दिलोंमें पालते हैं, वे तो बेहद अनुचित होते हैं। प्रजाजीवनके वर्णनोंमें प्रजाके बहुत ही थोड़े भागके जीवनकी जानकारी अुसमें दी हुअी रहती है; मगर हम समझ लेते हैं कि वह पूरी प्रजाकी हालतका वर्णन है। भूतकालमें भी समृद्धि थी। बड़े बड़े नगर, नालंदा जैसे विद्यापीठ वगैरा थे; अिस ज़मानेमें भी हैं। मगर हमें अैसा नहीं लगता कि आजकी तरह तब भी थोड़े ही लोग अुस समृद्धिका अुपभोग करते होंगे, ज़्यादातर लोग गरीब ही होंगे; गुरुकुलोंका लाभ गिने चुने लोग ही लेते होंगे; गार्गी जैसी विदुषी कोअी हर ब्राह्मणके घरमें नहीं होगी; अनेक ब्राह्मणियाँ तो आज जैसी ही निरक्षर होंगी, और दूसरे वर्णोंके स्त्री-पुरुष भी आज जैसे ही होंगे। मगर हम समझते हैं कि अुस समय तो सभीकी हालत अच्छी ही थी; बादमें बदल गअी। लेकिन बहुत बड़े प्रजा-समूहके लिअे अैसा कहाँ तक कहा जा सकता है, अिसमें शक ही है।

शिवाजीने अुस ज़मानेके मुसलमान राज्योंके खिलाफ़ मोर्चा लिया और स्वतंत्र हिन्दू राज्यकी स्थापना की, अिसपरसे मराठे मात्रको लगता है कि मुसलमानोंसे द्वेष करना अुनका कुलधर्म है; अिसी न्यायसे शिवाजीने सूरतको लूटा था, अिसे पढ़कर मेरे अेक बचपनके साथीको, जिसके पूर्वज सूरतमें रहते थे, अैसा लगता था कि शिवाजी और मराठे सब लुटेरे ही थे और महाराष्ट्रियोंके प्रति घृणा रखनेमें अुसे कुलाभिमान मालूम होता

था। अगर अितिहास जैसी कोअी चीज़ न हो, मनुष्यको भूतकालकी कोअी स्मृति ही न रहती हो, तो देश-देश और प्रजा-प्रजाके बीचकी दुश्मनियोंको पोषण न मिले। अभी तक अैसी कोअी प्रजा या व्यक्ति नहीं हुअे, जिन्होंने अितिहास पढ़कर कोअी शिक्षा ली हो और समझदार बने हों।

सच पूछा जाय, तो अितिहास स्मृति या याददाश्तका ही दूसरा नाम है। क्योंकि ज़्यादातर अितिहास लिखनेकी प्रवृत्ति अुस समय नहीं होती, जब कि स्मृति ताज़ी होती है, बल्कि अुस समय होती है, जब वह धुंधली पड़ जाती है और सच्चे हालचाल जाननेके साधन भी लुप्त होने लगते हैं। मगर ताजी और सच्ची स्मृति भी मनुष्यको मिला हुआ वरदान ही नहीं, बल्कि शाप भी है। दो गायोंके बीच सहानुभूति — प्रेम सदा रहता है। अुनके बीच हुआ झगड़ा क्षणिक होता है, क्योंकि अुनकी याददाश्त बहुत कमजोर होती है। और जब झगड़ा न हो, अुसकी याद भी न हो, तब अुनकी आपसकी सहानुभूति स्वभावसिद्ध ही होती है। मगर मनुष्य स्मृतिको ताज़ी रखकर ज़्यादातर द्वेषको ही जीवित रखता है; यानी सहानुभूतिको — प्रेमको घटाता है। स्वभावसिद्ध सहानुभूति या प्रेम अगर किसी खास कर्म द्वारा व्यक्त किया गया हो, तो वह याद रहे और पुष्ट हो; मगर अुसके अभावमें या अुसे भुला सकनेवाला झगड़ा कहीं अेकाध बार भी हो जाय, तो वह स्मृतिद्वारा लम्बे अरसे तक टिकता है।

यह सब देखते हुअे मुझे नहीं लगता कि अितिहासका शिक्षण, काव्य-नाटक-पुराण-अुपन्यास वगैरा साहित्यके शिक्षणसे ज़्यादा महत्त्व रखता है। अितिहासका अज्ञान अेकाध प्रसिद्ध नाटक या काव्यके अज्ञानसे ज़्यादा बड़ी खामी नहीं है। अिसे मनोरंजक साहित्यका ही अेक विभाग समझना चाहिये।

आजका मानवजीवन अितिहासका ही परिणाम है। हमें वर्तमान मानव-जीवनका अच्छी तरहसे निरीक्षण करना चाहिये और अितिहासकी कैदमें पड़े बगैर अुसकी समस्याओंका हल खोजना चाहिये। अैसा भय रखनेका कोअी कारण नहीं है कि अितिहास टूट जायगा या अुसकी परम्परा नहीं निभेगी।

क्योंकि अुसके संस्कार तो पहलेसे ही हमारे जीवनमें दृढ़ हो चुके हैं। अिसलिअे चाहे जितना कीजिये, अुसकी कारण-कार्य-शृंखला तो टूट ही नहीं सकती। जो अुपाय हम सोचेंगे, वे हमें भूतकालके किसी संस्कारमेंसे ही सूझेंगे, यानी बिन-पढ़े अितिहासमेंसे ही सूझेंगे। पढ़े हुअे अितिहासका, अुल्टे अिसमें विघ्नरूप होना ही ज़्यादा संभव रहता है।

अगर अितिहास न होता, तो झंडेके चक्रकी अशोकके धर्मचक्रसे या कृष्णके सुदर्शन चक्रसे तुलना करनेकी अिच्छा न होती; और चाँद-तारेके झंडेको भी महत्त्व न मिलता। अितिहासका ज्ञान क्षीण होनेके कारण जिस तरह मध्यकालमें हिन्दुस्तानमें आये हुअे शक, हूण, यवन, बर्बर, असुर वग़ैरा लोगों तथा अनेक धर्मों और आर्योंके बीच आज कोअी स्वदेशी-परदेशीका भेद नहीं करता या हिन्दूकी 'सावरकरी' व्याख्या पढ़ने नहीं बैठता, अुसी तरह आज मुसलमान, औसाअी, पारसी वग़ैराके सम्बन्धमें भी हुआ होता। पौराणिक चतुःसीमाके अनुसार अरबस्तान, तुर्कस्तान, मिश्र, बरमा, वग़ैरा सब देश भरतखंडके ही देश माने जाते। जिस तरह अितिहासके अज्ञानके कारण कुछ लोग मानते हैं कि सारे पुराण अेक ही कालमें और अेक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गये हैं, अुसी तरह सारे धर्म सनातनधर्मके ही भेद समझे जाते। अितिहास पढ़नेके परिणाम स्वरूप हम दूसरोंसे अलग होना सीखे हैं, मिलना नहीं।

शिक्षणमें अितिहासको गौण स्थान देनेकी ज़रूरत है। अुसकी कीमत भूतकाल सम्बन्धी कल्पनाओं अथवा दन्तकथाओंके बराबर ही समझनी चाहिये।

३०-१-'४८

अुपसंहार

अब अिस लम्बे विवेचनको पूरा करना चाहिये ।

अिस विषयमें कहीं भी मतभेद नहीं है कि जगत आज अतिशय अस्वस्थ है । विज्ञान और अुद्योगोंमें बहुत कुछ विकास हुआ और हररोज बढ़ता जाता है । मानव जातिके प्रारम्भसे लेकर सन् १८०० अीस्वी तकके लम्बे समयमें भी कुल जितना अुत्पादन नहीं हुआ, अुतना और अनन्त प्रकारका अुत्पादन पिछले दो सौ बरसोंमें हुआ होगा । पुराणों तथा योगशास्त्रोंमें वर्णित सिद्धियाँ हम प्रत्यक्ष होती देखते हैं और बिना योग साधे अुनका अुपभोग कर सकते हैं । फिर भी तंगीका पार नहीं, दुःखोंका अन्त नहीं, शांति-सुलह-संतोषका नाम नहीं ! अिन्सान अिन्सानको देखकर खुश नहीं हो सकता । वह बाघ और साँपसे भी ज़्यादा घातक और ज़हरीला बन गया है । कोअी देश या कोअी प्रजा अैसी नहीं रही, जो मानवताके अभावकी दृष्टिसे दूसरे किसी देश या प्रजासे कम हो । यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान, ग़रीबी या जंगली जीवनकी अपेक्षा विद्वत्ता, विज्ञान, तत्त्वज्ञान या सभ्यताके साथ अमानवताका कम मेल बैठता है ।

हमारे जीवनमें कहाँ खराबी है ? सुखके साधन हमारे लिअे दुःख रूप — शाप जैसे क्यों हो पड़े हैं ? अिसका मुझे जो कारण मालूम होता है, सो कहता हूँ :

बगीचेका माली लताकी जड़में पानी डालता है, वहाँ खुरपी चलाता है, मिट्टी चढ़ाता है, अुसकी नीरोगताकी जाँच करता रहता है । जब अुसपर फूलोंकी बहार आती है, तो क्षणभर खुश हो लेता है, कुछ गुच्छे तोड़कर मालिकको दे आता है । अुसे फूलोंको देखते हुअे खड़े रहनेकी ज़्यादा फ़ुरसत नहीं होती । मगर बगीचेका मालिक बाड़ीमें घूमने निकलता है, तो फूलोंको देखनेमें ही लीन हो जाता है । फूलोंको अुपजानेवाली लता और अुसके मूलको देखनेकी बात अुसे सूझती ही नहीं । दतौन जैसे रूखे और फूल-पत्तोंसे रहित मूलकी तरफ भला अुसका

कैसे आकर्षण हो सकता है? अुसका दिल तो फूलोंके रंग और गंधमें ही रमता है। अिस तरह वह पूरे बगीचेमें घूम लेता है, मगर अुसकी नज़र झाड़ोंके अूपरी वैभवपर ही घूमती रहती है; नीचे झुककर अुनके मूल नहीं देखती। अुसमें रसिकता है, मगर वह कार्यको ही समझ सकता है, कारणकी कदर नहीं कर सकता।

अथवा, अेक दूसरा दृष्टांत लें : शंकु आकारके नीचे जैसे अेक बहुत लम्बे पोंगेकी कल्पना कीजिये। अुसके बीचमें खड़ा हुआ मनुष्य
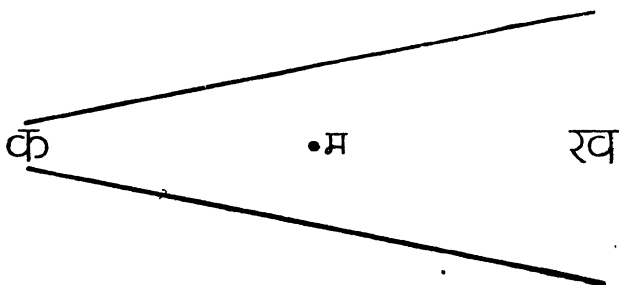
अगर ख की ओर अपना मुँह रखकर चलता है, तो अुसे विकास और विस्तार ही दिखाअी पड़ते हैं। जैसे जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे वैसे प्रदेशकी अनन्तता ही मालूम पड़ती है। कहीं भी अुसके आदि, अन्त या मूल नज़र नहीं आते। सभीकुछ आगे और आगे बढ़ता हुआ और अेक दूसरेसे दूर व दूर ज़ाता हुआ ही जान पड़ता है। अैसा लगता ही नहीं कि अिसका कभी अन्त भी आयेगा। अुसे लगता है मानो अनन्तमें भटकते भटकते वह खुद ही खो गया हो। मगर वही मनुष्य जब क सिरेकी ओर मुड़ता है, तो जैसे जैसे आगे बढ़ता है, वैसे वैसे सँकरापन और संकोच बढ़ते जाते हैं। सभी कुछ छोटा और भीड़में फँसा हुआ-सा जान पड़ता है। अगर वह आगे चलता ही रहे, तो अितने छोटे प्रदेशमें पहुँच जाता है, जहाँ सिर्फ़ अुससे ही पोंगा भर जाय। अुसके खुदके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। वहाँ विविधता नहीं, विस्तार नहीं,

बहुलता नहीं। मगर अुसे अैसा नहीं लगता कि वह खुद अुसमें खो गया है या रास्ता भूल गया है, बल्कि अिससे अुलटे वह समझने लगता है कि वही सब कुछ है। सबके साथ अुसे अपना ही सम्बन्ध दिखाअी पड़ता है। पहली स्थितिमें मनुष्य दूसरा सब कुछ देखता है, मगर अपनेको नहीं देखता, दूसरी स्थितिमें वह सिर्फ़ अपनेको ही देखता है, दूसरा और कुछ नहीं देखता। पहली दशामें वह मानता है कि वह अनन्तमें अुड़नेवाली नकुछ रज है, जो अकस्मात अुत्पन्न हो गअी है और बिना ध्येयके भटक रही है। दूसरी दशामें वह मानता है कि वह खुद ही विश्वका आदि-कारण और अर्क है। वह नहीं जानता कि अुसकी दृष्टि, बुद्धि और गति अेक शंकु आकारके पोंगेमें काम कर रही है, जो अेक तरफ़से चौड़ा होता जाता है और दूसरी तरफ़से सँकरा।
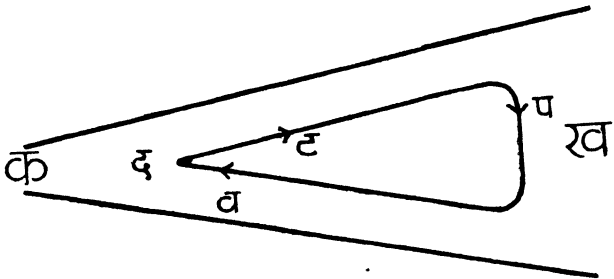
अूपरके ही दृष्टांतको अब थोड़ा बदल दीजिये। अेक मनुष्यके बदले अनेक मनुष्योंकी कल्पना कीजिये। कुछ ख की तरफ़ जाते है, कुछ क की तरफ़। जो ख की तरफ़ जाते हैं, वे अनंत, अपार, विविध, समृद्ध और सर्वव्यापक प्रकृतिको ही देखते हैं। प्रकृतिकी ही सारी लीला और महिमा देखते हैं। अुन्हें सभी कुछ फैलता और विस्तृत होता हुआ दिखाअी पड़ता है। शुरूआतमें अुसीका अन्त ढूँढनेके प्रयत्नमें वे आगे और आगे बढ़ते जाते हैं। कोअी थोड़ा चलकर थक जाता है, कोअी दूर जाकर थकता है। कोअी शीघ्र ही अिस निर्णयपर पहुँच जाता है कि अिसका कहीं भी अन्त आनेवाला नहीं है, कोअी बहुतसा घूम चुकनेके बाद

अिस नतीजे पर पहुँचता है। जब वह थकने लगता है, तो निराश हो जाता है और वापस लौटना चाहता है, तथा प की दिशामें मुड़ता है। अिस तरह कोअी बहुत बड़ा चक्कर लगाकर लौटता है, तो कोअी छोटा।

दूसरी तरफ़ जो क की ओर मुड़े हुअे हैं, वे अपने मनकी ही सारी विकृति और भ्रान्तिको देखते हैं। अुन्हें सब कुछ मनमें ही समाया हुआ सा लगता है। मनके बाहर भी किसीका अस्तित्व है या नहीं, अिसमें अुन्हें सन्देह रहता है। अिसलिअे वे मनको ही पकड़नेकी कोशिश करते हैं। मगर वे भी कभी थकने लगते है। अिस तरह मनको पकड़कर भी अुन्हें पूर्ण सन्तोष नहीं होता। अैसा मन अुन्हें शक्तिहीन, विभूतिहीन, कर्तृत्वहीन और संकुचित होता जान पड़ता है। अिसमें अुन्हें विकास नहीं, विलय — नाश मालूम होता है। अिसलिअे अैसा थका हुआ मनुष्य भी अुसी दिशामें टिकना नहीं चाहता। वह भी बादमें द के पाससे मुड़ी हुअी दिशामें घूमना चाहता है, और शक्ति, विभूति, कर्तृत्व, विकासको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त होता है। अिसमें भी कुछ लोग जल्दी थक जाते हैं और कुछ क के बहुत नज़दीक तक जाकर थकते हैं। बहुत कम अैसे होते हैं, जो बिना थके आखिर तक अिसी ओर बढ़ते रहते हैं। अिस तरह कुछ लोगोंके मुँह ख की तरफ़ मुड़े हुअे हैं और कुछ के क की तरफ़ किसी बार बहुत बड़ा संघ ख की तरफ़ जाता है, तो किसी बार क की तरफ़। सभी ख की तरफ़ जाते हों या सभी क की तरफ़ मुड़ते हों, अैसा नहीं होता।

आज मानव जातिके बहुत बड़े भागकी हालत बगीचेके अुस मालिक जैसी या ख की तरफ़ मुँह घुमाये हुअे लोगों जैसी ही है। सब फूलोंकी बहार देखनेमें, प्रकृतिकी खूबियाँ और विविधता खोजनेमें ही मशगूल हैं। नीचे झुककर या पीछे घूमकर अुनको यह देखनेकी अिच्छा नहीं होती कि यह किसका विस्तार है और किसकी विजय व महिमा है। दुनिया हमें स्वयंभू प्रकृतिका ही सारा अटपटा खेल मालूम होता है। अिसका कोअी मूल, बीज, कारण या कर्ता भी है या नहीं, अिसमें हमें शक है। जो अिस सम्बन्धमें विचार करते हैं, अुनका खयाल है कि

जीवसृष्टि — चैतन्यकी अुत्पत्ति भी अचानक ही हो गअी है। जिस तरह लतापर फूलोंकी बहार आती है, अुसी तरह प्रकृतिपर जीवसृष्टिकी बहार आअी हुअी है। जिस तरह फूल चाहे जितने सुन्दर और सुगन्धित हों, फिर भी वे मूलोंके ही कार्य हैं, कारण नहीं, या वे अनादि भी नहीं हैं; अुसी तरह जीवसृष्टि भी प्रकृतिका ही कार्य है, कारण नहीं; और वह अनादि भी नहीं है। अिसलिअे रसिक व्यक्तिके लिअे फूलोंकी जितनी कीमत होती है, अुससे ज़्यादा हमें जीवकी कीमत नहीं रही। जब तक अिसमें रंग और गंध हो, तब तक तो अिसकी कीमत है; बादमें अिसे पैरों तले कुचल डालते हैं। और अिसकी कीमतका यह मतलब नहीं कि अिसके लिअे किसी तरहका आदर हो, बल्कि जिसके प्रति हमें आदर हो, अुसके लिअे अिसका बलिदान करने जितनी ही अिसकी कीमत है। अिस तरह जिस चीज़को हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं, अुसके लिअे समग्र जीवसृष्टिका और मनुष्यका भी बलिदान करने, अुन्हें छेदकर, पिरोकर, बाँधकर कुचल डालनेमें हमें हिचकिचाहट नहीं होती। हमारी नज़र लताके मूलकी तरफ़ नहीं, बल्कि अूपरकी बहारकी तरफ; पोंगेके **क** सिरेकी तरफ नहीं, **ख** सिरेकी तरफ मुड़ी हुअी है, और यही हमारे दुःखोंका मूल कारण है। दिनमें सिर्फ हमारी पृथ्वीका ही विस्तार साफ दिखाअी पड़ता है, मगर रातमें तो हमें समग्र विश्वकी समृद्धिके दर्शन होते हैं और रात जितनी ही अँधेरी हो अुतनी ही अच्छी दिखती है; जैसे कोअी व्यक्ति दिनको अँधेरा करनेवाला और रातको प्रकाश फैलानेवाली कहे, अुसी तरह हम **ख** की दिशामें प्रकाश और विकास देखते हैं, तथा **क** की दिशामें संकोच और शून्यता अनुभव करते हैं।

भक्त और तत्त्वज्ञानीकी भाषामें कहें, तो हम मायाकी साधनामें भगवानको भूल गये हैं, प्रकृतिके ध्यानमें आत्माको खो बैठे हैं। आधुनिक साधारण भाषामें कहें, तो हम महत्ताके और वैभवके मोहमें अिन्सानियतको छोड़ते आये हैं। जिसके लिअे महल बँधवाया जा रहा है, वह खुद मरने बैठा है। मगर अुसकी सेवा करनेकी हमें फुरसत नहीं है। हम सोचते हैं कि पहले महल बन जाय, तो फिर अुसमें अेक अस्पतालका कमरा भी रखेंगे और अुसमें अिसका अिलाज करेंगे। अगर

तब तक यह मर गया, तो अिसके लड़केका अिलाज करेंगे, और अिसका लड़का नहीं रहा, तो किसी दूसरे बीमारको लाकर अुसमें रखेंगे; यह हमारा न्याय है।' अंधेर नगरी चौपट राजा' का न्याय अिससे ज़्यादा दोषपूर्ण नहीं था। अुल्टे, अुसने तो शूलीको समझकर ही शूली खड़ी की थी, हम शायद महल समझकर कतलखाना खड़ा करते हैं।

मतलब यह है कि जो बड़ीसे बड़ी क्रान्ति हमें करनी है, वह जड़ जाहोजलालीके बजाय मानवताको सबसे ज़्यादा महत्त्व और जीवको सबसे ज़्यादा आदर देना सिखानेवाली हो। अिसके अभावमें किसी भी प्रकारका राजतंत्र या अर्थवाद या धर्म मनुष्यको सुख-शान्ति नहीं दे सकेगा।

यह लिखते हुअे मैं अितना और कह देता हूँ कि मेरे मनमें मानवजातिके सम्बन्धमें निराशा नहीं है। हिन्दुस्तानके बारेमें तो मैं अिससे भी ज़्यादा आशावान हूँ। मेरा मन कहता है कि मानव अभी भले थोड़ा अिधर अुधर टकराये, गोते खाये, नुकसान अुठाये, मगर बादमें वह क की दिशामें अवश्य ही मुड़ेगा, प्रकृति-पूजाकी जगह फिरसे भगवानकी ही स्थापना करेगा और अुसे ज़्यादा शुद्ध स्वरूपमें समझकर करेगा। यह कोअी निराधार आशावाद नहीं है। पिछले पचास-साठ बरसोंमें हिन्दुस्तानमें जो अेकसे अेक अूँचे नेता पैदा हुअे हैं, अुसपरसे मुझे लगता है कि हिन्दुस्तानका — और सम्भवतः अुसके द्वारा मानव जातिका — जहाज़ अुचित दिशामें जा रहा है। गांधीजीके बाद पं० जवाहरलालकी तरफ़ सारे जगतका आदर और आशाकी नज़रसे देखना अकारण नहीं है। अिनका 'भगवान' शब्दको दूर रखना कुछ महत्त्व नहीं रखता, मगर मानवमात्रके लिअे अिनके दिलमें आस्था और सद्‌भाव है, यही अिनकी सबसे अूँची आध्यात्मिकता है।

हम अैसी क्रान्ति करें, जिससे क़दम क़दम पर हमारी मानवता दिखाअी दे और क़दम क़दमपर विकसित हो, तथा पूरी मानवजाति अुस पंथकी ओर मुड़े। यही सच्ची धार्मिकता है, और यही सच्ची समाजरचना, अर्थरचना और राज्य-प्रणालिका है।

शत्रु बड़े मानवमात्रके समान;
गंदगी, रोग, गरीबी, अज्ञान,
आलस, दंभ और असत्य,
मद, मदन और मद्य,
आसुर अभिलाष, अदम्य विकार,
काम-क्रोध-लोभ-गर्वके अनाचार —
ये सब अधर्म-सर्गके आविष्कार ।

अीश्वरसत्तावाद न सच्ची आस्तिकता;
अीश्वरनास्तिवाद न सच्ची नास्तिकता ।
पिता-पुत्र, भाअी-भाअी, स्वामी-सेवक,
पति-पत्नी, शासित और शासक,
व्यापारी-कारीगर और ग्राहक,
कला, सौंदर्य या विज्ञानके अुपासक,
धन-विषयार्थ ही मानें सम्बन्ध,
अिन्द्रियाकर्षणको ही मानें आनन्द;
अैसा बना हो जीवनका लक्षण,
वही नास्तिकताका असल चिन्ह ।
जहाँ तक आसुरी अभिलाषाओंमें श्रद्धा,
वहाँ तक सुख-शांति ऋद्धिकी अशक्यता ।

बढ़ाना-प्रकटाना अुच्च गुण सदैव,
मानवताके अुत्कर्षको मान जीवनका ध्येय,
सद्भावसे, धर्मभावसे करना जीवोंकी सेवा,
मानवमात्रको हृदयसे अपनाना;
जीवमात्रको प्रेमामृतसे नहलाना;
गंदगी, रोग, गरीबी, अज्ञान हटाना;
सत्य, शौच, अुद्योग आदि सद्गुण फैलाना,
अिसमें ही आत्मज्ञान व शान्ति पाना ।

अिस तरह जीवन भर करे अुपासना,
रखकर अीश्वरनिष्ठा व निःस्वार्थ भावना;
न रखे चिंता, ममता या भावीका सोच,
आवे देहका अंत, तो छोड़े निःसंकोच,
अिनके समाधान, शान्ति और मोक्ष,
नक़द, अकल्पित और अपरोक्ष ।

२८-११-'४७

हमारे हिन्दुस्तानी प्रकाशन

गोसेवा	१—८—०
दिल्ली-डायरी	३—०—०
रचनात्मक कार्यक्रम	०—६—०
राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी	१—८—०
वर्ण-व्यवस्था	१—८—०
सत्याग्रह आश्रमका इतिहास	१—४—०
आरोग्यकी कुंजी	०—१०—०
राष्ट्रभाषाका सवाल	०—६—०
महादेवभाईकी डायरी (पहला भाग)	५—०—०
अेक धर्मयुद्ध	०—८—०
बापूकी झाँकियाँ	१—०—०
हिमालयकी यात्रा	२—०—०
जीवनका काव्य	२—०—०
अीशु ख्रिस्त	०—१४—०
जीवन-शोधन	३—०—०
जड़मूलसे क्रान्ति	१—८—०
सयानी कन्यासे	१—०—०
गांधीजी	०—१२—०
प्रेम-पन्थ — १	०—४—०
हिन्दुस्तान और ब्रिटेनका आर्थिक लेन-देन	०—८—०
हमारी बा	२—०—०
मरुकुंज	१—४—०
बापू — मेरी माँ	०—१०—०
जीवनका सद्व्यय	(छप रही है)
महादेवभाईकी डायरी — दूसरा भाग	,,
स्त्री-पुरुष मर्यादा	,,

राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी

गांधीजी

ठेठ १९०९से गांधीजीने हिन्दके लिअे अेक राष्ट्रभाषाकी ज़रूरत महसूस कर ली थी। और वह भाषा हिन्दुस्तानी ही हो सकती है, अैसी अुनकी विचारपूर्वक राय बन गअी थी। अिसके लिअे अुन्होंने जीवन पर्यन्त काम किया। अिस किताबमें अुनके हिन्दकी राष्ट्रभाषाके बारेमें लिखे लेखों और भाषणोंका संग्रह किया गया है। राष्ट्रभाषाके सवालमें रस लेनेवालोंके लिअे यह खूब अुपयोगी साबित होगी।

कीο १–८–० डाकखर्च ०–२–०

राष्ट्रभाषाका सवाल

जवाहरलाल नेहरू

" . . . जवाहरलालके निबन्धसे राष्ट्रीय और शुद्ध शिक्षाके दृष्टिकोणसे सारे विषयको ठीक समझनेमें कीमती मदद मिलेगी। अुनके रचनात्मक सुझाव अगर सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा व्यापक रूपमें मान लिये जायँ, तो अुनसे यह विवाद, जिसने साम्प्रदायिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है, खत्म हो जाना चाहिये। ये सुझाव विस्तृत हैं और बहुत माकूल हैं और मुझे आम तौरपर अुनकी ताअीद करनेमें जरा भी संकोच नहीं है।"

— गांधीजी

कीο ०–६–० डाकखर्च ०–२–०